सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प - १९

दौलत भजन सौरभ

अनुवादक
श्री ताराचन्द्र जैन
जयपुर

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

आरम्भिक

अध्यात्म-प्रेमी पाठकों के लिए 'दौलत भजन सौरभ' प्रस्तुत कर हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित 'जैनविद्या संस्थान' जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की बहुआयामी दृष्टि को सामान्यजन एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु प्रयत्नशील है।

संस्थान द्वारा 'सर्वोदय पुस्तकमाला' के अन्तर्गत जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित अत्यन्त सरल एवं सुरुचिपूर्ण शैली में पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। प्रस्तुत 'दौलत भजन सौरभ' इस माला का उन्नीसवाँ पुष्प है। यह पुष्प आध्यात्मिक कविराज दौलतराम (सन् १७९८-१८६६) के विभिन्न भजनों, स्तुतियों, विनतियों के सौरभ से सुरभित है। पुस्तक में भजनों आदि का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत है। इससे जनसामान्य को इन आध्यात्मिक भजनों का मर्म समझने में सहजता होगी।

भजनों के हिन्दी अनुवाद के लिए हम प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य श्री ताराचन्द्रजी जैन, एडवोकेट, जयपुर के आभारी हैं।

प्रबन्धकारिणी कमेटी की भावना के अनुरूप जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ. कमलचन्द सोगाणी सत्साहित्य उपलब्ध कराने के लिए जो प्रयास कर रहे हैं वह श्लाघनीय है।

पुस्तक प्रकाशन के लिए जैनविद्या संस्थान के कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

प्रकाशचन्द जैन
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

प्रस्तावना

करुणा से भरपूर वीतरागी तीर्थंकरों ने अहिंसा और समता के ऐसे उदात्त जीवन-मूल्यों का सृजन किया जिसके आधार से व्यक्ति जैविक आवश्यकताओं से परे देखने में समर्थ हुआ और समाज विभिन्न क्रिया-कलापों में आपसी सहयोग के महत्व को हृदयंगम कर सका। तीर्थंकरों की करुणामयी वाणी ने व्यक्तियों के हृदयों को छूआ और समाज में एक युगान्तरकारी परिवर्तन के दर्शन हुए। नवजागरण की दुन्दुभि बजी। शाकाहार क्रान्ति, आध्यात्मिक मानववाद की प्रतिष्ठा, प्राणी-अहिंसा की लोक-चेतना, लैंगिक समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, जीवन-मूल्य-संप्रेषण के लिए लोक-भाषा का प्रयोग - ये सब समाज में तीर्थंकरों/महात्माओं के महनीय व्यक्तित्व से ही हो सका है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जीवन में भक्ति का प्रारंभ इन शुद्धोपयोगी, लोककल्याणकारी तीर्थंकरों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन से होता है और उसकी (भक्ति की) पराकाष्ठा वीतरागता-प्राप्ति में होती है। दूसरे शब्दों में, तीर्थंकरों की शैली में जीवन जीना उनके प्रति कृतज्ञता की पराकाष्ठा है। भक्ति उसका प्रारंभिक रूप है।

प्रस्तुत पुस्तक 'दौलत भजन सौरभ' भक्त कवि दौलतरामजी के लोक भाषा में रचित भजनों, स्तुतियों, विनतियों का संकलन है। इसका उद्देश्य मनुष्यों/पाठकों में जिन भक्ति/प्रभु भक्ति को सघन बनाना है जिससे वे अपने नैतिक-आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ प्राणिमात्र के कल्याण में संलग्न हो सकें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्रियों की दासता मनुष्य/व्यक्ति के नैतिक-आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करती है, जिसके कारण व्यक्ति पाशविक वृत्तियों में ही सिमटकर जीवन जीता है। जीवन की उदात्त दिशाओं के प्रति वह अन्धा बना रहता है। मनुष्य/व्यक्ति के जीवन में भक्ति का उदय उसको जितेन्द्रिय आराध्य के सम्मुख कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए खड़ा कर देता है, जिसके फलस्वरूप वह इन्द्रियों से परे समतायुक्त जीवन के दर्शन करने में समर्थ होता है। जब वह आराध्य की तुलना अपने से करता है तो उसको अपने आराध्य की महानता और

अपनी तुच्छता का भान होने लगता है। वह आराध्य के प्रति आकर्षित होता जाता है और उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। इस श्रद्धा और प्रेम के वशीभूत होकर वह अपने आराध्य को मन में सँजोए रखकर विकास की प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। जितेन्द्रिय/वीतराग आराध्य उसको वीतराग/अनासक्त बनने की दिशा में प्रेरित करता है। वीतराग आराध्य भक्त का सहारा बनकर उसे आत्मानुभूति/आत्मानन्द में उतर जाने की ओर इंगित करता है। यही भक्ति की पूर्णता है। इस तरह से वीतराग की भक्ति वीतरागी बना देती है। भक्ति की परिपूर्णता में वीतरागी के प्रति राग तिरोहित हो जाता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में भी वीतरागी आराध्य के प्रति राग वस्तुओं और मनुष्यों के राग से भिन्न प्रकार का होता है। उसे हम उदात्त राग कह सकते हैं। इस उदात्त राग से संसार के प्रति आसक्ति घटती है और व्यक्ति मानसिक तनाव से मुक्त होता जाता है। इस उदात्त राग से दुर्लभ जीवन की एवं जन्म-जन्म की कुप्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और लोकोपयोगी सद्प्रवृत्तियों का जन्म होती है। इस तरह से इससे एक ऐसे पुण्य की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा संचित पाप को नष्ट किए जाने के साथ-साथ समाज में विकासोन्मुख परिस्थितियों का निर्माण होती है। भक्ति की सरसता से व्यक्ति ज्ञानात्मक-कलात्मक स्थायी सांस्कृतिक विकास की ओर झुकता है। वह तीर्थंकरों द्वारा निर्मित शाश्वत जीवन-मूल्यों का रक्षक बनने में गौरव अनुभव करता है। इस तरह भक्ति व्यक्ति एवं समाज के नैतिक-आध्यात्मिक विकास को दिशा प्रदान करती है।

इस 'दौलत भजन सौरभ' में भक्त कवि दौलतरामजी के द्वारा रचित १२४ भजनों का संकलन किया गया है। ये भजन विभिन्न विषयों से सम्बन्धित विविध भावों से ओत-प्रोत हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार कर सकते हैं -

गुरु का महत्व एवं स्वरूप - मानव-जीवन में गुरु का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन में विकास की कोई भी दिशा हो - उसके लिए गुरु का मार्ग-दर्शन अपेक्षित समझा जाता है। अभीष्ट को पाने के लिए गुरु का मार्ग-दर्शन विशेष महत्व रखता है क्योंकि गुरु की शिक्षाएँ हितकारी होती हैं, अनुभवसिद्ध होती हैं। कवि ने गुरु का स्वरूप बताते हुए कहा है - हमारे सतगुरु वे ही हैं जिन्होंने दिगम्बर/यथाजातरूप धारणकर (४५) राग-द्वेष को त्याग दिया है, जो

गहन ध्यान द्वारा मोह का नाश करते हैं (४४); जो सांसारिक सुख की कामना छोड़कर आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार से कठोर तप करते हैं (४५); जिनकी धारणा में स्व व पर का भेद स्पष्ट होने लगा है (४७); जो तिनके व स्वर्ण, शत्रु व मित्र, निन्दक और प्रशंसक के प्रति समभाव रखते हैं (४५); जो पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करते हुए आचरण का पालन करते हुए शुद्ध आत्मध्यान में स्थिर हो (४१); जिनकी लगन मोक्ष की ओर लग रही है (४५); ऐसे योगी अवश्य ही अभयपद मोक्ष लक्ष्मी को पायेंगे (४१)।

गुरु का संबोध - ऐसे गुरु स्वयं इस भवसागर को अपने परिश्रम/तप से पार करते हैं और दूसरों को भी ऐसा करने की शिक्षा देते हैं, प्रेरणा देते हैं, संबोधते हैं (४२)।

आत्मस्वरूप - आत्मा का स्वरूप समझाते/बताते हुए कहते हैं - आत्मा का रूप अनुपम है, अद्भुत है, इसको जानने से ही इस संसार से पार हो सकेंगे (७४); अपना भ्रम नाशकर ही स्वयं को जान सकोगे (७६); आत्मा चेतन है, जड़ता से-पुद्गल से भिन्न/पृथक् है। आत्मा ज्ञान स्वभाववाला है, आत्मा देहरूप नहीं है (१२०); रूप-रस-गंध-स्पर्श आत्मा के गुण/चिह्न नहीं हैं (१२१) इसलिए निज/स्व व पर की भिन्नता को पहचान 'स्व' पर श्रद्धाकर, शुद्धस्वरूप के आचरण में लीन हो (११४), सम्यग्ज्ञानरूपी अमृत का पानकर (११८)।

विषय-भोग की निस्सारता - सत्गुरु बार-बार हित की बातें समझाते हैं। आत्मस्वरूप समझाने के बाद वे विषय-भोगों की निस्सारता समझाते हुए कहते हैं - हे मनुष्य! मैं बार-बार तुम्हारे हित की बात कहता हूँ (६२); तुम मेरी सीख मानो और भोगों की ओर मत झुको (९४); भोगों की इच्छा-अभिलाषा अन्तहीन है, उसकी तृप्ति के लिए तीनलोक की सम्पदा भी कम है (९४); तू समझ कि ये विषय-भोग सर्प के समान घातक हैं (९०), (१२३); तू नाग सरीखे विषैले विषयों में ही लग रहा है (१२४); यह भी समझ कि विषधर तो एक ही बार डसता है, अहित करता है पर ये विषय-भोग तो बार-बार डसते हैं, अहित करते हैं (९१), (१०७); कषायों की जलती हुई आग में चाहरूपी घी की आहुतियाँ डालता है (१०८); इनकी चाहरूपी आग सब कुछ जला देती है, हमेशा जलाती रहती है (१०३) पर तेरी आदत खोटी है कि तू विषय-भोगों की तरफ ही भागता है (९२), इनसे तृष्णा बढ़ती जाती है (१०९); इन इन्द्रिय-विषयों के कारण

तुमने बहुत दु:ख पाये, बहुत संक्लेश सहे (८८); तू विषयों की चाहरूपी राह को छोड़ (१०६); इनके साथ रहने से अपने सभी गुण छिप जाते हैं (१२३)।

मोह-कषाय की घातकता को समझाते हुए गुरु कहते हैं - हे प्राणी! मोह तुम्हारा सबसे बड़ा शत्रु है, यह सुखकारी नहीं हो सकता (२९); तुम इनसे नेह तोड़ो (३५); मोह के, राग आदि के बन्धन बहुत दु:ख देते हैं (३४); तू मोहवश चारों गतियों में भ्रमण कर रहा है (१००); तू मोहरूपी मदिरा को पीकर अपने आपको भूल गया है (९३), (९५), (१०४); इस मोहरूपी ठग ने इन्द्रजाल की भाँति विभ्रम का जाल चारों ओर फैला रखा है और यह जीव उसमें भटक रहा है (९१), (८०); तुमने पर में ही रुचि लगाई हुई है, अपने स्वरूप को नहीं पहचान रहा (८३); तू राग-द्वेषरूपी मैल के द्वारा अपनी आत्मा की निर्मलता की हानि कर रहा है (७७)।

देह की पृथकता - देह-प्रेम की निरर्थकता बताते हुए गुरु कहते हैं - हे जीव! ये देह दु:खों का घर है और विपत्ति की निशानी है (९५); यह मलीन है अत: अत्यन्त घिनौनी है, इससे अधिक प्रीत मत करो (८९); तू देह को अपना जान रहा है पर ये तुझसे भिन्न है (८३), (१२४); ये देह मल की थैली है, पराई है, अस्थायी है फिर क्यों तू इसके पोषण में ही लगा रहता है (९७), (११९); यह देह जड़ है और तू चेतन है, दोनों का स्वरूप बिल्कुल भिन्न है फिर इन दोनों का मेल कैसे संभव है? इनकी प्रीत कैसे निभेगी (७८), (९७), (१००), (१०२), (१२०); ये देह तुमसे भिन्न है (९८); तू देहरूप नहीं है (१२०); तुम इससे प्रीति स्थापित कर दिन-रात पाप का संचय करते रहते हो, समझो, पर-पदार्थ कभी भी अपना नहीं होता (७९), (९९); जैसे पानी और तेल का मेल नहीं होता उसी भाँति इस शरीर व आत्मा का भी मेल नहीं है (७९); ये तन का संयोग स्वप्नवत् है, इसके विलय होने में देर नहीं लगती (१००), (१०१); तू देहाश्रित क्रियाएँ करके अपने को मोक्षमार्ग का राही मानता रहा है (१०५); कहने को तो कहते रहे कि ये देह चेतन से भिन्न है पर आचरण से देह से ही ममत्व करते रहे हैं (१११); हे जीव! यह देह तेरे अहित की जड़ है, एक जेल के समान है, इस देह से नेह ही संसार का हेतु है (११९); समझ, चन्द्रमा की ज्योति/चाँदनी जिस भूमि पर पड़ रही है वह भूमि चाँद की नहीं हो जाती उसी प्रकार ये देह आत्मा की नहीं है (७७)।

संसार की असारता - हे जीव! यह संसार केले के तने के समान निस्सार है (९१); यह जग धोखे की टाटी है (११०); जैसे सराय में यात्री आते हैं और जाते हैं वैसे ही पुत्र-स्त्री-भाई-बन्धु भी आते और जाते रहते हैं उनसे संयोग व वियोग होता रहता है (१०१)।

आयु/काल - अंजुलि के जल के समान जीवन की स्थिति घट रही है (११८); मृत्यु के आगमन की तैयारी चल रही है, उसके आगमन के बाजे बजने लगे हैं, तू उसकी आहट क्यों नहीं सुनता? (१०९); इस शरीर से प्राण एक क्षण में निकल जायेंगे और तब यह मृत शरीर माटी की तरह पड़ा रह जायगा (११०)।

अवसर की दुर्लभता - यह नरभव और जैनधर्म का सुयोग दोनों ही अत्यन्त दुर्लभ अवसर हैं। गुरु/कवि इस अवसर की दुर्लभता समझाते हुए इसका उपयोग करने की शिक्षा देते हैं हे नर! बहुत कठिन संयोग से यह मनुष्यभव, उसमें भी यह अच्छा कुल पाया है, साथ में जिनवाणी सुनने का अवसर मिला है (७७); ये सब एकसाथ मिलना बहुत कठिन है, पर जब ये मिल ही गये हैं तो तू अपना हित करने में देर क्यों कर रहा है (१०२), (१०३), (१०४); ये श्रेष्ठ क्षेत्र, अच्छा कुल और जिनवाणी का संयोग काललब्धि से मिले हैं (७९), (९८); सत्संग, तीक्ष्ण विवेक-बुद्धि भी पाई है (८१), (८३); इसका उपयोग करो। यह नरभव तुझे मिला है जो इसे विषय-भोगों में खो देता है उसकी बुद्धि ही खराब है (१२२); जिनेन्द्र के वचनों को सुनने का अवसर अति दुर्लभ है, इसका उपयोग कर (१०८); यह अवसर बार बार नहीं मिलता (१२२); जैनधर्म पाकर तू राग-द्वेष को छोड़ (७८); तेरा हित इसी में है, यह मनुष्य पर्याय, अच्छा कुल पाकर मन से ममत्व छोड़कर दुविधाभरी दशा से छुटकारा पाओ (१००); यह नरभव मोक्ष का द्वार है, मोक्ष-गमन का साधन है (९९); इन्द्र भी इस नर-पर्याय को पाने की कामना करते हैं जिसे तूने विषयों के वशीभूत होकर बिगाड़ दिया है (१०८); ऐसा अवसर बड़ी कठिनाई से मिला है, उसमें यदि अपने ही हित के लिए विलम्ब किया गया तो हे सयाने! तुझे पछताना पड़ेगा (१०२); मनुष्य जन्म पाकर तुम इसे ऐसे ही व्यर्थ गँवाते हो मानो कोई कौवा उड़ाने के लिए अपना अनमोल रत्न फेंक देता है (९९); रत्न को समुद्र में फेंकने के बाद जैसे उसका मिलना दुर्लभ हो जाता है उसी भाँति मनुष्य भव को व्यर्थ गँवाने के बाद पुनः उसका मिलना कठिन हो जाता है (१०७); अब भी समझ ले, यह मनुष्य

भव अत्यन्त दुर्लभ है उसे तूने धर्मसाधन बिना यूँ ही गँवा दिया और अब भी गँवा रहा है (१२४) अब जो बीत गई सो बीत गई, हे मनुष्य! अब तो तू अपने दर्शन और चारित्र को संभाल (१२३); जिनकी अपनी सुधि है, ध्यान है, वे नरभव पाकर जैनधर्म का पालन करते हैं और अविनाशी पद प्राप्त करते हैं (१२२)।

गुरु द्वारा भर्त्सना - बार-बार समझाने पर भी जीव/मनुष्य नहीं समझता तब गुरु उसे प्रताड़ित करने में भी नहीं चूकते। वे कहते हैं - अरे निपट अज्ञानी जीव! तू कितना भरम में भूला हुआ है, अपना भला किसमें है तू यह भी नहीं जानता, अपना स्वरूप भी नहीं जानता (१२०), (१०५); तूने यह कैसी अनीति धारण कर ली है कि गुरु की सीख भी नहीं मानता (७८); सत्गुरु बार-बार हितकारी सीख देते हैं (१०८); पर तू उसे मन में धारण नहीं करता (११२); मृगतृष्णा की भाँति भ्रम में ही डूबे रहते हो (७९); हे निपट अज्ञानी! तुमने आपा/निजत्व नहीं जाना, नाहक भ्रम में ही भूले हुए हो (१२०); हे नर! तू भ्रम की नींद क्यों नहीं छोड़ता जो अत्यन्त दुःखदायी है (१०९); तू अपने को भूलकर पर-रूप को अपनाता है (१०९); तू कैसा ज्ञानधारी है (१०५); जानबूझ कर अंधे बने हो, आँखों पर पट्टी बाँध रखी है (११०); हे जीव! बालपन में हित अहित का ध्यान नहीं रहता, युवावस्था में विषय-भोगों में ही लगा रहता है, वृद्धावस्था में अंग शिथिल हो जाते हैं इसलिए विचारकर कि इन तीनों में हित की, सुख की दशा कौनसी है (९१); तू अपने स्वरूप को भूलकर, अपनी समतारूपी निधि को भूलकर स्वयं भिखारी बन गया है (१०८); तू दुःख से डरता है पर क्रियाएँ दुःख उपजाने की ही करता है (१०८)।

आत्म-संबोध - गुरु के द्वारा बार-बार, अनेकविध समझाने पर भव्य जीव विचारने लगता है कि मैं अपने को भूल रहा हूँ इसलिए भ्रमित हो रहा हूँ (१); मैं अपनी स्वाभाविक निधि को भी भूल रहा हूँ (५); और पर के साथ लग रहा हूँ (२३); यह मोह भी बहुत दुष्ट है, इसने मुझे घेर रखा है और संसाररूपी जंगल में भटकाया है (४); मैं कैसा अज्ञानी हूँ कि मैंने गुरु का कहना भी न माना (७८); मृगतृष्णा की भाँति भ्रमित होता रहा (७९); मैंने कभी अपने हित के कार्य नहीं किये, हितकारी - अच्छे कुल को पाया, श्रेष्ठ देव व गुरु का अच्छा साथ मिला पर ये सब पाकर खो दिये (१११); हम विषय-भोगों को भी नहीं

छोड़ते न कभी अपने स्वरूप में लीन होते (१११); निजस्वरूप के चिन्तन के अभाव में मैं भवसमुद्र में पड़ा हूँ, जन्म-मरण और बुढ़ापे के त्रिदोषों की आग में जलता रहा हूँ (८१); अरे मन! तेरी यह खोटी आदत है कि तू इन्द्रिय-विषयों की ओर दौड़ता है (९२); हमने कभी पाप-क्रियाओं का त्याग नहीं किया, जिनेन्द्र के गुणों का जाप नहीं किया, उनका स्मरण-मनन नहीं किया (१११); हमने कभी भी अपने गुणों का चिन्तन नहीं किया, उनकी भावना नहीं की, इस तन को अपना मानकर, अपना जानकर हम इस तन के सुख-दुःख में ही रोते-बिलखते रहे (११२); दर्शन ज्ञान और व्रतरूपी अमृत को हमने नहीं चखा, भाँति-भाँति के विषयों के विष का आस्वादन करते रहे। सत्गुरु के बार-बार उपदेश दिया उसे सुनकर भी कभी उसे स्वीकारा नहीं, उस पर विचार नहीं किया, संसार के आकर्षण को नहीं छोड़ा और घर, काम/इच्छाएँ, धन, स्त्री इन्हीं की आशारूपी आग में अपने को नित्य प्रति जलाते रहे (११२)। इस देह को अपना समझकर उसमें ही मगन होते रहे। शुद्ध, ज्ञानवान, सुख के पिंड अपने चैतन्यस्वरूप की कभी भावना नहीं की, चिन्तन नहीं किया, विचार नहीं किया (११३); यह हमारी बहुत बड़ी भूल थी, हे मन! सुन तेरे हित की बात कहता हूँ - तू पाँचों इन्द्रियों के विषयों की ओर मत भाग (६२), (९४)।

स्व-हित की भावना - अब मुझे मोक्ष की राह की चाह हुई है, रुचि जागृत हुई है, असंयम के प्रति उत्साह अब खत्म हुआ है (१४); मेरे चित्त में यह विश्वास हो गया है कि मेरा हित वैराग्य में ही है (१४); अब यही भावना है कि मेरे कब वह शुभ घड़ी आवेगी जब मैं नग्न दिगम्बर होकर साधना करूँगा (८४); जड़ से, पुण्य-पाप से कब विरक्त होऊँ और अपनी विस्मृत निधि को जानूँ-पाऊँ (८४); कब ऐसा अवसर आवे कि मैं शेष सारे पर को त्याग दूँ और अपने चित्त, अपनी आत्मा का चिंतवन करूँ; पुण्य-पाप की स्थिति को छोड़कर मैं अपने आप में रमण करूँ (८२); कब इस जन्म-मृत्युरहित आत्मा का ध्यान करूँ; आठों कर्मों को नष्ट करूँ; जिससे संसार-वन के भ्रमण से मुक्त हो जाऊँ (८२)।

देव/तीर्थंकर स्वरूप व महिमा - ऐसी भावना के कारण उसकी श्रद्धा और आचरण में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अब उसे तीर्थंकर की महिमा समझ आने लगती है। तीर्थंकर जिन्होंने कर्मों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप को प्रकट

कर लिया है, अपने शुद्ध रूप को जान लिया है; 'जिन' हो गये हैं, जो सब ज्ञेयों को जाननेवाले हैं, जो मोह-अंधकार को नष्ट करनेवाले सूर्य हैं, वीतरागता से भरपूर हैं, उनके गुणों का चिन्तन करने से निज व पर का भेदज्ञान व विवेक होता है (१)। वे अरहन्त जिनने घातिकर्मों का नाश कर दिया है; जिनकी समीपता में/ शरण में सर्प व मोर, हरिण व सिंह भी अपना जातिगत विरोध भूल जाते हैं, जिनका यश सारे जगत में फैल रहा है (२); जिनका ज्ञान व तप ऐसा है कि उनके दर्शन से अपने आत्मस्वरूप का भान/दर्शन होने लगता है (८); जिन्होंने आठ कर्मरूपी योद्धा शत्रुओं को जीतकर मोक्षरूपी अंकुर को दृढ़ किया है (८); जिन्होंने युगपत ज्ञान और दर्शन से अनन्त भावों को देखा व जान लिया है (२१), जो बिना किसी निजी स्वार्थ के जगत के हितकारी हैं (२३); जो अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन, अनन्त बल व अनन्त सुख के धारी हैं (२५); जगत में वे ही मंगल हैं, उत्तम हैं, शरण हैं, मोक्षमार्ग को बतानेवाले दानी - उपकारक हैं (३), मोक्षमार्ग दिखाने वाले हैं (४)।

उन जिनेन्द्र के दर्शन से मुझे स्व-पद की रुचि जागृत हुई है, पुद्गल से भिन्न अपने चैतन्य रूप की बोधि हुई है (११); अब स्वभाव की आराधना भली लगने लगी है (११); हे जिनदेव! अब मैं आपकी शरण में आ गया हूँ (५); आप जगत के कल्याण के लिए सहज निमित्त कारण हो - यह मुझे निश्चय हो गया है (४); आपकी शरण को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ (६); अब तक आपकी शरण में नहीं आया - अनादिकाल से यही गलती रही (६); आपके गुणों को धारणकर भव्यजन मोक्षमार्ग पर गमन करते हैं (५); यद्यपि आप विरागी हैं, राग-द्वेषरहित हैं फिर भी सहजरूप से मोक्ष का मार्ग बतानेवाले हैं, जैसे सूर्य सहजरूप से सबको राह दिखाता है (२९), (५४); श्री जिनेन्द्र के मुखरूपी सूर्य के दर्शन से भ्रमरूपी अंधकार के बादल विघट जाते हैं, अज्ञान दूर हो जाता है (९); जिनेन्द्र की शान्त मुद्रा आनन्दित करनेवाली है (१०); मोहरूपी अंधकार का नाश हो गया (१३), (१४); इनके दर्शन से अपनी आत्मसंपदा के दर्शन होते हैं (१५); उनके गुणों का चिंतवन करने से अपार और दुष्कर संसार-समुद्र का तट निकट दीखने लगता है (१४), (१५); विभावों के तनाव से मुक्ति व निजस्वरूप की स्वतन्त्रता की प्रतीति होने लगी है (१३), (७); उनके गुणों का चिंतवन मुझे अपने गुणों की प्रतीति कराता रहे। आपका दर्शन मोक्ष का मार्ग

दिखानेवाला है (१६); आपके गुण-चिन्तवन से निज के गुणों का भान होता हैं (१६); आपकी पूजा से भाव पवित्र होते हैं जिससे पाप दूर हो जाते हैं (१७); आपकी मुद्रा निराकुल पद को दिखानेवाली है और श्रेष्ठ विरागता को उत्पन्न करनेवाली है, इसलिए हमें भली लगती है (१८); श्री जिनेन्द्र के दर्शन से ज्ञात हुआ कि मैं चेतन हूँ, स्पर्श-रस-गंधयुक्त जड़ नहीं हूँ (१९); जड़ता का नाश होने लगता है (२); परिग्रह-जो कि आकुलता की आग है वह भी नष्ट होता हैं (१९); आपके दर्शन से सहज ही सब पाप टल जाते हैं, आपके गुणों के चिंतवन से कर्मरूपी रज/धूलि स्वयं ही झड़ जाती है (२८); आपकी छवि के दर्शन करते ही निज-पर की स्पष्ट प्रतीति होती है, भिन्नता दिखाई देती है (३१); आपके समान ज्ञान-वैराग्य और श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति हेतु इन्द्र भी ललचाता रहता है (३१)।

दिव्यध्वनि/जिनवाणी - तीर्थंकर के दर्शन, गुणचिंतन की भाँति ही उनकी दिव्यध्वनि भी कल्याणकारी है। हे देव! हे जिन! आपकी वाणी-जिनवाणी-दिव्यध्वनि स्व व पर का स्वरूप प्रकाशित करानेवाली हैं (३७); हे देव! आपकी वाणी भ्रमरूपी अंधकार को दूर करानेवाली है (३०), (३२), (३७); मोहरूपी अंधकार को दूर करानेवाली है (१४); कर्ममल को धोनेवाली है (३०), (३७); मिथ्यात्वरूपी बादलों को दूर करनेवाली है (३७); जिनवाणी तत्व का विचार करने की बुद्धि जागृत करानेवाली है (३४); इसलिए मुझे जिनवाणी में, आपकी वाणी में गहरी श्रद्धा हैं (१२) (३१); जिनवाणी का संयोग काललब्धि से मिला हैं (७९); जिनेन्द्र की हितकारी वाणी को सुन (९५); उसको सुनकर अपना हित समझ ले (८३) (१०८), तू जिनवाणी को जान/समझ (३६); तत्व का स्वरूप बतानेवाली जिनवाणी का संयोग दुर्लभ है (९८); जिनवाणी पतितों का उद्धार करनेवाली है (३७); जिनागम की ओर अपनी लगन लगाओ (३५); अमृत सी दिव्य-ध्वनि झर रही है, उससे निज अन्तररूपी आकाश निर्मल दिखाई देने लगा है (१२); दिव्यध्वनि को सुनकर मुनिराजों को निजगुणों का भान होता हैं (२१), (३७); निरक्षरी ध्वनि को सुनकर भव्यजन इस भवसमुद्र से पार होते हैं (२५); दिव्यध्वनि रूपी किरण के प्रसार से भव्यजनों के ज्ञानरूपी कमल खिल उठते हैं (९); दिव्यध्वनि उस मेघ के समान है जो पर की चाहरूपी अग्नि को बुझाकर श्रेष्ठ समतारूपी वर्षा की झड़ी बरसाती है (३१) इसको समझे बिना

अपनी शक्ति/सामर्थ्य का, स्वरूप का ज्ञान न हो सका (३०); जिनको जिनवाणी नहीं सुहाती उनकी दुर्गति होती है (४०); हे भव्य! जिनेन्द्र के वचन सुनकर इस संसार के द्वन्द्व से क्यों नहीं छूट जाता (९९); गुरु भी समझाते हैं कि हे सज्जन चित्त! जिनेन्द्र की वाणी को समझो (३६); अमृतरूप वचन का निरन्तर पान करो, श्रद्धान करो, मनन करो (३६), (३७); हृदय में धारण करो (३०)।

भव्यजन कहते हैं कि मन स्याद्वादमयी दिव्य ध्वनिरूपी निर्मल जल से विमल होकर समताभावी होने लगा है (३२); श्री जिनेन्द्र के कर्णप्रिय वचन सुनकर अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ है (३३)।

भव्य प्राणी की चाह - गुरु के संबोध से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके बाद भव्यप्राणी की भावना चाहना बदल जाती है। मार्गदृष्टा गुरु के प्रति भी उसकी श्रद्धा व भक्ति जागृत होती है, वह भावना करता है कि ऐसे गुरुवर/मुनिवर मुझे मिलें जो मुझे इस संसार समुद्र से पार लगा दें (४२); क्योंकि अब वह सांसारिक वस्तुएँ इन्द्रिय सुख या भोग-विलास की वस्तुएँ नहीं चाहता बल्कि अब वह चाहता है कि - मेरे अब अन्य कुछ भी चाह नहीं है, बस यही चाह है कि मैं स्वभाव से ही लीन रहूँ, मेरे मोहरूपी ज्वर का शमन हो (१); मैं कर्मशृंखला से छूट सकूँ (४); हमारी राग-द्वेष की भावना नष्ट हो जाय (५); जो पर है अन्य है उसे छोड़कर अपनी आत्मा में ही रमण करूँ; राग-द्वेषरूपी अग्नि से बचकर समतारस में भीज जाऊँ, कर्म और कर्मफल में मेरी कभी रुचि न हो, मैं सदैव ज्ञानरूपी अमृत का पान करता रहूँ (७); मैं संसार-सागर से पार होऊँ (६); मुझे आपके समान पद की प्राप्ति हो (१०) (२२) (२४) (२६) (२७) (२८)।

तीर्थंकर स्तुति - तीर्थंकर के समान पद का आकांक्षी भव्य प्राणी तीर्थंकरों की भक्ति/स्तुति करता है, वह जानता है कि उनकी भक्ति मुक्ति का साधन है (२२); आप ही इस दुःख-समुद्र से पार ले जाने हेतु जहाज हो (१); आपकी भक्ति जन्म-मृत्यु रोगरूपी विष को हरनेवाली है, उनका निवारण करनेवाली परम-औषधि है (३)।

तीर्थंकर ऋषभदेव की महिमा गाते हुए कवि कहते हैं - हे सखि! चल, राजा नाभिराय के घर भावी तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ है, जहाँ इन्द्र भी ऋषभ-

जन्मोत्सव के उपलक्ष में नट की भाँति नृत्य कर प्रसन्न हो रहा है (५३); माता मरुदेवी के प्यारे, पिता नाभिराय के दुलारे ऋषभ जिनेन्द्र की जय हो (४९); उनके गर्भ में आने के छः माह पूर्व से इन्द्र ने पृथ्वी को रत्नमयी कर दिया, जन्म होते ही सुमेरु पर्वत पर ले जाकर इन्द्र ने क्षीरोदधि के जल से उनका न्हवन किया (५०); जिनको नीलांजना के नृत्य समय हुए मरण को देखकर वैराग्य हो गया (५०); जिन्होंने स्व-पर का भेद समझकर पर-परिणतियों को त्याग दिया (५२); जो परम दिगम्बर रूप धारणकर पद्मासन मुद्रा में हाथ पर हाथ रखकर ध्यान में लीन हैं (४८); देव, असुर, मनुष्य आदि जिन्हें नमन करते हैं (४८), (५०); ऐसे ऋषभदेव को जय हो (४९); उन ऋषभदेव का स्मरण कर (५०); हे स्वामी! मेरे भी दुःखों का नाश हो (४९); मुझे भी मोक्षपथ का अनुगामी बनाइये (५१); हम हाथ जोड़कर आपको वन्दना करते हैं (५२)।

जगत को आनन्दित करनेवाले हे अभिनन्दन जिनेश्वर! मैं आपके चरण-कमल में नमन करता हूँ (५४) आपका अरुण वर्ण पापों को हरनेवाला है (५४)।

हे पद्मप्रभ जिनदेव! आपका उपदेश सिंह की भाँति मिथ्यात्वरूपी हाथी का नाश करनेवाला है। पपोसा आपका तप-स्थान है, आप मोक्षरूपी लक्ष्मी के स्वामी हैं, मैं आपकी महिमा गाने में असमर्थ हूँ (५५)।

चन्द्रमा के समान मुखवाले हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र! जगत में भटकानेवाले संशय विमोह व विभ्रम का हरण करो (५६)।

हे वासुपूज्य जिनदेव आपकी जय हो। चंपापुरी में हुए आपके पाँचों कल्याणक अत्यन्त सुखकारी हैं (५७)।

राजा विश्वसेन व रानी ऐरादेवी के निवास पर भावी तीर्थंकर शान्तिनाथ के जन्म पर मंगल उत्सव हो रहा है। इन्द्र ने उनके जन्म कल्याणक का उत्सव बहुत उल्लास से मनाया है, सभी देवों ने अपने-अपने नियोगों का निर्वाह किया है। तीर्थंकर चक्रवर्ती व कामदेव इन तीन पदवियों के धारक भगवान शान्तिनाथ के श्रीचरणों की शरण में जय-जयकार है (५८)।

कुंथु जैसे छोटे-छोटे सभी जीवों के रक्षक श्री कुंथुनाथ! मुझे इस संसार के दुःखों से मुक्त करो (५९)।

श्याम वर्ण की छवियुक्त श्री नेमिनाथ की मुद्रा मेरी आँखों में समा गई (६०), (६१); अशरण को शरण देनेवाले प्रभु नेमिनाथ जगत का हित करनेवाले हैं (६३)।

भगवान पार्श्वनाथ के चरणों के दर्शन पाकर हर्ष होता है जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर पक्षी अत्यन्त प्रमुदित होता है (६४)। जिनके जन्म के समय वामादेवी के घर इन्द्र नट की भाँति नृत्य करता है (६५)। ऐसे पार्श्वनाथ अनादि से चले आ रहे मेरे अज्ञान के बंधन को हरनेवाले हैं (६६)। उनका नाम स्मरण करने से भव-भ्रमणरूपी भँवर से छुटकारा हो जाता है (६७)।

मैं उन अद्‌भुत वीर जिनेन्द्र की वन्दना करता हूँ जो भव्यजनों के चित्त को हरनेवाले हैं (६८); मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी महावीर भगवान! आपकी जय हो। इन्द्र, नागेन्द्र, खगेन्द्र, चन्द्रमा, नरेन्द्र आदि सारा जगत आपका सेवक है (६९); आप परम विरागी हैं, निःस्पृही हैं फिर भी जगत के सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाले हैं, इसलिए विनयवत हाथ जोड़कर वन्दना करते हैं (६९)। श्री वीर जिनेन्द्र की जय हो। वे चन्दना सती के कष्टों का, मेंढक के पापों का शमन करनेवाले हैं (७०); हे महावीर! हमारी भव-पीर हरो (७१)। उन त्रिशला-पुत्र महावीर की वन्दना के लिए राजा श्रेणिक परिवारजनों, नागरिकों व समाज-समूह को साथ लिये चलकर आते हैं (७२) उन वीर जिनेन्द्र की जय हो (७३)।

कवि गिरिराज सम्मेदशिखर की यात्रा करते हैं तो भाव विभोर हो उसकी महिमा का भी वर्णन करते हैं कि आज हमारा जीवन धन्य हुआ, हमने उस पर्वत को देखा जहाँ से बीस तीर्थंकर एवं अपार मुनिगण मोक्ष गये हैं (८७)।

यात्रा आदि के अवसर पर भक्ति से ओत-प्रोत साधर्मी बन्धुओं से परस्पर मिलन भी एक शुभ संयोग होता है। साधर्मी बन्धुओं के सत्संग से संशय, भ्रम व मोह की वासनाएँ रुक जाती हैं, ज्ञान की वर्षा होती है, हृदय में वीतराग देव व गुरु की भक्ति बढ़ती है (३८)।

भक्ति से भरा ज्ञानी विशिष्ट होली खेलता है, प्रतीकात्मक होली खेलता है - समतारूपी नीर से झारी भरकर उसमें करुणारूपी केशर घोलता है और पंचेन्द्रिय सखियों की ओर फेंकता है, दानरूपी गुलाल की मुट्ठी भर-भरकर फेंकता है (८६); मोहनीय कर्मरूपी ईंधन व इन्द्रिय विषयों के वेदन को तप की अग्नि

में भस्म कर अघातिया कर्मों की राख उड़ाता है (८५); मोक्ष की राह प्रशस्त करता है।

कवि के भाव असीम हैं, उन्हें लेखन द्वारा व्यक्त करना स्वयं कवि के लिए भी कठिन है और जो लिखा भी गया है उसके मर्म तक पहुँचना और उसे प्रकट करना भी सहज नहीं है फिर भी भक्ति व अनुभूति की गहनता में उन भावों की गहराई के निकट पहुँचने के प्रयास से उनका अनुवाद संभव हो जाता है।

इन भजनों के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य श्री ताराचन्द्र जैन, एडवोकेट का आभारी हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में सहयोगी भावकता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

ऋषभ जन्म–तप कल्याणक दिवस
चैत्र कृष्ण नवमी
वीर निर्वाण संवत् २५२७
१८ मार्च, २००१

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति
जयपुर

कवि दौलतराम

(वि.सं. १८५५-१९२३; ई. सन् १७९८-१८६६)

कवि दौलतराम परलोकवासी का जन्म विक्रम संवत १८५५ ५६; ईस्वी सन् १७९८-९९ में हुआ। आपके पिता का नाम श्री टोडरमल था। श्री टोडरमल हाथरस (उ.प्र.) में कपड़े का व्यापार करते थे।

दौलतराम को विद्यालयी शिक्षा अधिक नहीं मिली, शीघ्र ही काम-धन्धे में लगा दिये गये, फिर भी प्रतिभासम्पन्न दौलतराम विद्याध्ययन से विरत नहीं हुए। उन्होंने स्वाध्याय एवं परिश्रम से तत्त्वज्ञान का अच्छा अभ्यास किया। साथ ही रस, पिंगल आदि का अच्छा ज्ञान अर्जित किया। अपने ज्ञान एवं भावनाओं को काव्यात्मक रूप में व्यक्त किया। उनकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी, कहते हैं - जिस समय वे कपड़े के थान पर छींट छापने का काम करते थे उस समय चौकी पर प्राकृत-संस्कृत भाषा के सिद्धान्तग्रन्थ - गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि रख लेते थे और लगभग ७०-८० गाथाएँ/श्लोक कण्ठाग्र कर लेते थे। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर मथुरा के सेठ मनीराम इन्हें संवत् १८८२ (ई. सन् १८२५) में अपने साथ मथुरा लिवा ले गये। कुछ समय तक मथुरा रहने के बाद वे सासनी चले गये, फिर वहाँ से लश्कर चले गये। इन्हें अपनी मृत्यु का आभास, छः दिन पूर्व हो गया था अतः अपने परिवारजन से क्षमायाचना कर समाधिमरण ग्रहण कर लिया और मार्गशीर्ष अमावस्या, विक्रम संवत् १९२३ (ई. सन् १८६६) को दिल्ली में शरीर त्याग दिया।

इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'छहढाला' है जो ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में है। इसकी भाषा सरल, स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी है। दौलतरामजी ने छहढालों (परिच्छेदों) में कुल ९५ पदों के इस लघु ग्रन्थ की रचना लोगों को तत्व का उपदेश देने के लिए जयपुर के कवि बुधजन (ई. सन् १७७३-१८३८) कृत 'छहढाला' के आधार पर वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) विक्रम संवत् १९०१ (ई. सन् १८४४) में पूर्ण की।

इसके अतिरिक्त उन्होंने शताधिक भजन व पद लिखे। इन पदों की भाषा खड़ी हिन्दी है लेकिन उस पर जहाँ-तहाँ ब्रजभाषा का प्रभाव है। आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत, भक्ति व शिक्षायुक्त पद धर्मप्रेमी बन्धुओं को धार्मिक भावनाओं से सराबोर कर देते हैं।

विषय-सूची

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
	जिनदेव-स्तुति	
१.	सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि	१
२.	अरि रज रहस हनन प्रभु अरहन	५
३.	हे जिन तेरो सुजस उजागर	६
४.	हे जिन तेरे मैं शरणै आया	८
५.	मैं आयो जिन शरन तिहारी	१०
६.	जाऊँ कहाँ तज शरण तिहारे	११
७.	हे जिन ! मेरी ऐसी बुधि कीजे	१२
८.	आज मैं परम पदारथ पायो	१३
९.	जिनवर आनन भान निहारत	१४
१०.	त्रिभुवन आनन्दकारी जिन छवि थारी	१६
११.	निरखत जिनचंद्र-वदन	१८
१२.	निरखत जिनचंद री माई	१९
१३.	निरखत सुख पायो जिन मुखचंद	२१
१४.	मैं हरख्यो निरख्यो मुख तेरो	२२
१५.	दीठा भागन तैं जिनपाला	२३
१६.	शिवमग दरसावन रावरो दरस	२४
१७.	जिन छवि तेरी यह, धन जगतारण	२५
१८.	प्यारी लागै म्हाने, जिन छवि थारी	२६
१९.	जिन छवि लखत, यह बुधि भयी	२७
२०.	ध्यान कृपान पानि गही नासी, त्रेसठ प्रकृति अरी	२८

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
२१.	भविन-सरोरूह सूर, भूरिगुणपूरित अरहंता	२९
२२.	प्रभु थारी आज महिमा जानी	३१
२३.	तुम सुनियो श्री जिननाथ अरज इक मेरी जी	३३
२४.	और अबै न कुदेव सुहावै	३४
२५.	उरग-सुरग-नरईश शीस, जिस आतपत्र त्रिधरे	३५
२६.	मोहि तारो जी क्यों ना	३६
२७.	नाथ मोहि तारत क्यों ना	३८
२८.	हो तुम त्रिभुवन तारी, हो जिन जी	३९
२९.	सुधि लीज्यौ जी म्हारी	४०
शास्त्र-स्तुति		
३०.	जय जय जग भरम, तिमिर हरन जिन धुनी	४२
३१.	थारा तो बैना में सरधान घणो छै म्हारे	४३
३२.	जिन बैन सुनत, मोरी भूल भगी	४४
३३.	सुन जिन बैन, श्रवण सुख पायो	४५
३४.	जब तैं आनन्दजननि दृष्टि परी माई	४६
३५.	और सबै जग द्वंद मिटावो लो लाओ जिन आगम ओरी	४८
३६.	जिनवाणी जान सुजान रे	४९
३७.	नित पीज्यौ धीधारी, जिनवानि सुधासम जान के	५०
३८.	धन धन साधर्मीजन मिलन की घरी	५२
३९.	अब मोहि जान परी भवोदधि तारन को है जैन	५४
४०.	ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावे	५५
गुरु-स्तुति		
४१.	ऐसा योगी क्यों न अभय पावै	५७

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
४२.	कबधो मिले मोहि श्री गुरु मुनिवर	५९
४३.	गुरु कहत सीख इमि बार-बार	६१
४४.	जिन राग-द्वेष त्यागा, वह सत्गुरु हमारा	६२
४५.	धनि मुनि, जिनकी लगी लौ शिवओरनै	६३
४६.	धनि मुनि जिन यह, भाव पिछाना	६४
४७.	धनि मुनि निज आतमहित कीना	६५
तीर्थंकर-भजन		
४८.	देखो जी आदीश्वर स्वामी, कैसा ध्यान लगाया है	६६
४९.	जय श्री ऋषभ जिनंदा	६८
५०.	भज ऋषिपति ऋषभेश ताहि नित, नमत अमर असुरा	६९
५१.	मेरी सुधि लीजै, ऋषभ स्वाम	७१
५२.	निरख सखी ऋषिन को ईश, यह ऋषभ जिन	७३
५३.	चलि सखि देखन नाभिराय घर, नाचत हरि नटवा	७५
५४.	जगदानंदन जिन अभिनंदन, पद अरविंद नमूं मैं तेरे	७६
५५.	पद्मसद्म, पद्मापद पद्मा, मुक्तिसद्म दरशावत है	७८
५६.	चन्द्रानन जिन चन्द्रनाथ के	८०
५७.	जय जिन वासुपूज्य, शिवरमनी रमन	८२
५८.	वारी हो बधाई या शुभ साजै	८४
५९.	कुंथन के प्रतिपाल कुंथु जगतार	८७
६०.	अहो नमि जिनप, नित नमत शत सुरप	८९
६१.	नेमि प्रभु की श्यामवरण छवि	९१
६२.	भाखूँ हित तेरा, सुनि हो मन मेरा	९२
६३.	लाल कैसे जाओगे, असरन सरन कृपाल	९४

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
६४.	पारस जिन चरन निरख	९५
६५.	वामा घर बजत बधाई	९६
६६.	पास अनादि अविद्या मेरी	९७
६७.	सांवरिया के नाम जपन तैं	९९
६८.	वंदों अद्‌भुत चन्द्रवीर जिन	१००
६९.	जय शिवकामिनीकंत वीर	१०२
७०.	जय श्री वीर जिनेन्द्र चन्द्र	१०४
७१.	हमारी वीर हरो भव पीर	१०६
७२.	सब मिल देखो, हेली म्हारी रे	१०७
७३.	जय श्री वीरजिन, वीरजिन, वीरजिनचंद	१०८
आत्म-स्वरूप		
७४.	आतम रूप अनुपम अद्‌भुत	११०
७५.	चिन्मूरत दृगधारी की मोहे, रीति लगत है अटापटी	१११
७६.	आप भ्रमविनाश आप आप जान पायो	११३
७७.	चेतन यह बुधि कौन सयानी	११५
७८.	चेतन कौन अनीति गही रे	११६
७९.	चेतन तैं यौं ही भ्रम ठान्यो	११७
८०.	चेतन अब धरि सहजसमाधि	११८
८१.	चिदरायगुन सुनो मुनो प्रशस्त गुरुगिरा	१२०
८२.	चित चिंतकैं चिदेश कब, अशेष पर वमू	१२२
८३.	राचि रह्यो परमाहिं तू अपनो, रूप न जानै रे	१२३
८४.	मेरे कब है वा दिन की सुधरी	१२४
८५.	ज्ञानी ऐसी होली मचाई	१२५

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
८६.	मेरो मन ऐसी खेलत होरी	१२७
८७.	आज गिरिराज निहारा, धनभाग हमारा	१२९
८८.	जिया तुम चालो अपने देश, शिवपुर थारो शुभ थान	१३०
८९.	मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जान के	१३१
९०.	मत कीज्यौ जी यारी, ये भोग भुजंग सम जानके	१३३
९१.	मत राचो थीधारी, भव रंभथंभसम जानके	१३५
९२.	हे मन तेरी को कुटेव यह, करनविषय में धावै है	१३७
९३.	हो तुम शठ अविचारी जियरा	१३८
९४.	मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी	१३९
९५.	मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानी	१४०
९६.	जानत क्यौं नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी	१४२
९७.	छांडि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी	१४३
९८.	छांडत क्यौं नहिं रे, हे नर ! रीति अयानी	१४४
९९.	लखो जी या जिय भोरे की बातैं	१४५
१००.	सुनो जिया ये सतगुरु की बातैं	१४८
१०१.	मोही जीव भरमतमतैं नहिं	१५०
१०२.	ज्ञानी जीव निवार भरमतम, वस्तुस्वरूप विचारत ऐसैं	१५२
१०३.	अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ	१५४
१०४.	जीव तू अनादिहीतैं भूल्यौ शिवगैलवा	१५६
१०५.	आपा नहिं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे	१५७
१०६.	शिवपुर की डगर समरससौं भरी	१५८
१०७.	तोहि समझायो सौ सौ बार	१५९
१०८.	न मानत यह जिय निपट अनारी	१६०

भजन संख्या		पृष्ठ संख्या
१०९.	हे नर, भ्रमनींद क्यों न छांडत दुखदाई	१६२
११०.	अरे जिया, जग धोखेकी टाटी	१६३
१११.	हम तो कबहूँ न हित उपजाये	१६४
११२.	हम तो कबहुँ न निजगुन भाये	१६६
११३.	हम तो कबहुँ न निज घर आये	१६८
११४.	हे हितवांछक प्रानी रे, कर यह रीति सयानी	१६९
११५.	विषयोंदा मद भानै, ऐसा है कोई वे	१७१
११६.	कुमति कुनारि नहीं है भरी रे	१७२
११७.	घड़ि-घड़ि पल-पल छिन-छिन निशदिन	१७३
११८.	जम आन अचानक दावैगा	१७४
११९.	तू काहेको करत रति तनमें	१७५
१२०.	निपट अकाजा, है आपा नहीं जाना	१७६
१२१.	निजहितकारज करना भाई ! निजहित कारज करना	१७७
१२२.	मनवचतन करि शुद्ध भजो जिन, दाव भला पाया	१७८
१२३.	मोहिड़ा रे जिय ! हितकारी न सीख सम्हारै	१८०
१२४.	सौ सौ बार हटक नहिं मानी, नेक तोहि समझायो रे	१८२
	परिशिष्ट	१८३

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानंदरसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरिरजरहस विहीन॥ १॥

जय वीतराग विज्ञानपूर। जय मोहतिमिरको हरणसूर॥
जय ज्ञान अनंतानंत धार। दृगसुखवीरजमंडित अपार॥ २॥

जय परमशांतिमुद्रासमेत। भविजनको निज अनुभूति हेत॥
भविभागनवश जोगे वशाय। तुम धुनि है सुनि विभ्रम नसाय॥ ३॥

तुम गुणचिंतत निजपरविवेक। प्रगटें विघटें आपद अनेक॥
तुम जगभूषण दूषणवियुक्त। सब महिमायुक्त विकल्पमुक्त॥ ४॥

अविरुद्ध शुद्ध चेतन-स्वरूप। परमात्म परमपावन अनूप॥
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन। स्वाभाविकपरणतिमय अछीन॥ ५॥

अष्टादशदोषविमुक्त धीर। सुचतुष्टयमय राजत गंभीर॥
मुनिगणधरादि सेवत महन्त। नव केवललब्धिरमाधरंत॥ ६॥

तुम शासन सेय अमेय जीव। शिव गये जाहिं जैहैं सदीव॥
भवसागरमें दुख क्षारवारि। तारनको और न आप टारि॥ ७॥

यह लख निजदुख-गद हरणकाज। तुम ही निमित्तकारण इलाज॥
जाने, तातैं मैं शरण आय। उचरों निजदुख जो चिर लहाय॥ ८॥

मैं भ्रम्यों अपनपो विसर आप। अपनाये विधिफल पुण्यपाप॥
निजको परको करता पिछान। परमें अनिष्टता इष्ट ठान॥ ९॥

आकुलित भयो अज्ञान धार। ज्यों मृग मृगतृष्णा जान वार॥
तनपरणतिमें आपौ चितार। कबहूं न अनुभयो स्वपद सार॥ १०॥

तुमको विन जाने जो कलेश। पाये सो तुम जानत जिनेश॥
पशुनारकनरसुरगतिमझार। भव धर धर मर्‌यो अनंतवार॥ ११॥

अब काललब्धिबलतैं दयाल। तुमदर्शनपाय भयो खुशाल॥
मन शांत भयो मिट सकलद्वन्द। चाख्यो स्वातमरस दुखनिकंद॥१२॥

तातैं अब ऐसी करहु नाथ! बिछुरै न कभी तुव चरणसाथ॥
तुम गुणगणको नहिं छेव देव!, जगतारनको तुम विरद एव॥१३॥

आतमके अहित विषय-कषाय। इनमें मेरी परणति न जाय॥
मैं रहों आपमें आप लीन। सो करो होंहुं ज्यों निजाधीन॥१४॥

मेरे न चाह कछु और ईश। रत्नत्रयनिधि दीजे मुनीश॥
मुझ कारजके कारन सु आप। शिव करहु हरहु मम मोहताप॥१५॥

शशिशांतिकरन तपहरन हेत। स्वयमेव तथा तुम कुशल देत॥
पीवत पियूष ज्यों रोग जाय। त्यों तुम अनुभवतैं भव नसाय॥१६॥

त्रिभुवन तिहुंकालमझार कोय। नहिं तुम विन निजसुखदाय होय॥
मो उर यह निश्चय भयो आज। दुखजलधिउतारन तुम जहाज॥१७॥

दोहा - तुम गुणगणमणि गणपती, गणत न पावहिं पार।
'दौल' स्वल्पमति किम कहै, नमों त्रियोग सँभार॥१८॥

जो सब ज्ञेयों के जाननेवाले हैं, फिर भी अपने ही आनन्दरस में निमग्न हैं, लीन हैं, ऐसे आप - जिनेन्द्रदेव की जय हो। आप मोहनीय (अरि), ज्ञानावरण-दर्शनावरण (रज) व अंतराय कर्म (रहस) से रहित हैं अर्थात् आपके घातियाकर्म नष्ट हो चुके हैं।

आप वीतराग विज्ञान से भरे-पूरे हैं, आपकी जय हो; आप मोहरूपी अंधकार को नष्ट करनेवाले सूर्य हैं, आपकी जय हो। आप अनन्त-अनन्त ज्ञान के धारी हो, आपकी जय हो। आप अपार अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख व अनन्त बल के धारी हो।

परमशान्ति की धारक आपकी छवि, भव्य प्राणियों को निज की अनुभूति कराने के लिए हेतु है, साधन है। भव्यजनों को सौभाग्यवश मन-वचन-काय

के योग से आपकी दिव्यध्वनि सुनने का सुयोग प्राप्त होता है - जिसे सुनकर विभ्रम दूर हो जाता है।

आपके गुणों का चिन्तन करने से निज व पर का भेदज्ञान व विवेक होता है और उदय में आयी विपदाएँ भी नष्ट हो जाती हैं, छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती हैं। आप जगत के भूषण हैं, सब दोषों से रहित हैं, सब महिमा के धारक हैं, सब विकल्पजाल से मुक्त हैं।

आप शुद्ध चेतन-स्वरूप हैं, अबाधित हैं। अद्भुत, परमपावन, परमआत्मा हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विभावों का आपने अभाव कर दिया है और अक्षय स्वाभाविक परिणति से युक्त हैं।

आप धीर हैं, अठारह दोषों से रहित हैं। अरहंत अवस्था से अनन्तचतुष्टय (अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख व वीर्य) सहित, गंभीर मुद्रा में सुशोभित हैं। मुनि-गणधर आदि महान साधुजन आपकी स्तुति करते हैं, भक्ति करते हैं, आप केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी के धारक हैं।

आपके शासन में अर्थात् आप द्वारा दिखाए गए मोक्षमार्ग पर चलकर अगणित जीव मोक्ष गए हैं, जा रहे हैं और सदैव जाएँगे। इस खारे भव-सागर के दु:खों से दु:खी जीवों को आपके अतिरिक्त, आपके सिवा अन्य कोई तारनेवाला नहीं है।

मेरे दु:खरूपी विष को हरने के लिए, शमन करने के लिए आप ही निमित्त कारण होकर इलाज के एक साधन हैं, यह देख-जानकर मैं आपकी शरण में आया हूँ और सदा से/अनादि से भोग रहे अपने दु:खों को व्यक्त कर रहा हूँ, कह रहा हूँ।

मैं अपने स्वरूप को भूलकर भ्रमता फिर रहा हूँ, भटक रहा हूँ इसी के परिणामस्वरूप पुण्य-पापरूपी फल पा रहा हूँ। मैं अपने को पर का/पर को अपना कर्ता समझकर पर में/अन्य में ही अपने इष्ट और अनिष्ट की मान्यता करता रहा हूँ।

अज्ञानवश मैं आकुल हुआ, जैसे हरिण मृगतृष्णावश आकुल होता है। मैंने अपनी इस देह की दशाओं को अपना ही जाना और निज-स्वरूप के सार का कभी अनुभव नहीं किया।

आपको जाने बिना मैंने जो दु:ख पाये हे जिनेश! आप वे सब जानते हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव पर्यायों में मैं अनेक बार भव/जन्म धारण करता रहा और मरता रहा हूँ।

अब समय आने पर हे प्रभु, मैंने आपके दर्शन पाये हैं और प्रसन्न हूँ। सारे विकल्पजाल से मुक्त होकर मेरा मन शान्त हुआ है और दु:खों से मुक्त करनेवाले अपने आत्मरस का आस्वादन कर रहा हूँ।

इसलिए अब ऐसा कुछ कीजिए कि कभी आपके चरणों का साथ न छूटे। भव सागर से पार लगाना आपका विरद है, गुण है। मेरी इस मान्यता की कभी हानि न होने दीजिए।

आत्मा का अहित करनेवाले विषय और कषाय हैं। उनमें मेरी कोई रुचि जागृत न हो। ऐसा कीजिए कि मैं सदा अपने स्वभाव में ही लीन रहूँ/मैं सदैव अपने ही आधीन रहूँ।

हे ईश, मेरे और/अन्य कुछ भी चाह नहीं है। हे मुनीश, मुझे रत्नत्रय दीजिए। मैं कार्य हूँ-जिसके लिए आप ही कारण हैं। मेरे मोहरूपी ज्वर का शमन कर मुझे शान्ति प्रदान कीजिए, मेरा कल्याण कीजिए।

इस तपन का नाश करने के लिए, चन्द्रमा-सी शीतलता प्रदान करने के लिए आप कुशलदाता हैं। जैसे - अमृतपान से रोग मिट जाता है, उसीप्रकार आपके गुणों के चिंतवन से/अनुभव से भव-भव की शृंखला टूट जाती है।

तीन लोक व तीन काल में आपके सिवा सुख-दाता अन्य कोई नहीं है। यह मैंने अपने हृदय में निश्चित कर लिया है। आप ही इस दु:ख-समुद्र से पार ले जाने हेतु एकमात्र जहाज हो।

जब गणधर भी आपके गुणों की गिनती नहीं कर सके, आपके गुणों का पार नहीं पा सके, दौलतराम कहते हैं कि तब मैं अल्पमति उनका कैसे कथन कर सकता हूँ! मैं मन, वचन, काय को सँभालकर, साधकर, आपको नमन करता हूँ।

अरि = मोहनीयकर्म; रज - दर्शनावरण-ज्ञानावरणकर्म; रहस = अंतरायकर्म; सूर = सूर्य; अमेय = अपरिणाम; गद - रोग; छेव = पार।

(२)

अरिरजरहस हनन प्रभु अरहन, जैवंतो जगमें।
देव अदेव सेव कर जाकी, धरहिं मौलि पगमें॥ अरिरज.॥

जो तन अष्टोत्तरसहस लखन लखि कलिल शमें।
जो वचदीपशिखातैं मुनि विचरैं शिवमारगमें॥ १॥ अरिरज.॥

जास पासतैं शोकहरन गुन, प्रगट भयो नगमें।
व्यालमराल कुरंगसिंधको, जातिविरोध गमें॥ २॥ अरिरज.॥

जा जस-गगन उलंघन कोऊ, क्षम न मुनीखगमें।
'दौल' नाम तसु सुरतरु है या, भवमरुथलमगमें॥ ३॥ अरिरज.॥

अरहंत प्रभु, जगत में सदा जयवन्त रहें, जिनने मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन घातियाकर्मों का नाश किया है! देव व अन्यजन सभी जिनके चरणों में अपना शीश झुकाकर, चरणों में मुकुट रखकर वन्दना करते हैं, सेवा करते हैं।

जिनके शरीर में १००८ सुलक्षण देखकर सारे पापों का शमन हो जाता है। जिनकी दिव्यध्वनि के आलोक में (प्रकाश में) मुनिजन मोक्ष की राह में बढ़ते हैं।

जिनकी समीपता से वृक्ष में सारे खेद-शोक का नाश करने का गुण प्रकट हो जाता है और वह 'अशोक' वृक्ष कहलाने लगता है, जिनकी समीपता में/शरण में सर्प व मोर, हरिण व सिंह सभी अपना जातिगत विरोध भूलकर गमन करते हैं, विचरण करते हैं।

जिनका यश सारे आकाश में, जगत में फैल रहा है। उस यश-गगन अर्थात् यश के विस्तार का पार पाने में मुनिरूपी पक्षी भी सक्षम नहीं हैं। दौलतराम कहते हैं कि इस भवरूपी रेगिस्तान की राह में वे कल्पवृक्ष के समान हैं।

अरि - मोहनीय कर्म; रज ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्म; रहस - अन्तरायकर्म; नग = वृक्ष; क्षम - समर्थ; भवमरुथल = भवरूपी रेगिस्तान।

(३)

हे जिन तेरो सुजस उजागर, गावत हैं मुनिजन ज्ञानी ॥ टेक ॥
दुर्जय मोह महाभट जाने, निजवश कीने जगप्रानी,
सो तुम ध्यानकृपान पानिगहि, ततछिन ताकी थिति भानी ॥ १ ॥
सुप्त अनादि अविद्या निद्रा, जिन जन निजसुधि विसरानी।
है सचेत तिन निजनिधि पाई, श्रवन सुनी जब तुम वानी ॥ २ ॥
मंगलमय तू जगमें उत्तम, तुही शरन शिवमगदानी।
तुवपद-सेवा परम औषधि, जन्मजरामृतगदहानी ॥ ३ ॥
तुमरे पंच कल्यानकमाहीं, त्रिभुवन मोददशा ठानी,
विष्णु विदम्बर, जिष्णु, दिगम्बर, बुध, शिव कह ध्यावत ध्यानी ॥ ४ ॥
सर्व दर्वगुनपरजयपरनति, तुम सुबोध में नहिं छानी।
तातैं 'दौल' दास उर आशा, प्रगट करो निजरससानी ॥ ५ ॥

हे जिनेन्द्र ! आपका सुयश प्रकट हो रहा है, फैल रहा है; ज्ञानी व मुनिजन उसका गान करते हैं।

यह सर्वप्रसिद्ध है, जगत जानता है कि आपने कठिनाई से जीते जानेवाले मोहरूपी महान योद्धा को, जिसने सारे-जगत को अपने वश में कर रखा है, अपनी ध्यानरूपी कृपाण-तलवार हाथ में लेकर उसकी वास्तविक खोखली स्थिति को भाँप लिया है, जान लिया है।

अनादि काल से अज्ञान की गहरी निद्रा में सोकर जो अपने आप को भूल गए हैं, जिन्हें अपनी सुधि नहीं रही है, उन्होंने अपने कानों से जब आपका उपदेश सुना तो सचेत होकर, जागकर, अपनी निज की निधि को पहचान लिया, पा लिया, सँभाल लिया।

तू ही जगत में मंगल है, उत्तम है और शरण है, तू ही मोक्षमार्ग को बतानेवाला दानी उपकारक है। तेरे चरणों की सेवा-भक्ति ही जन्म, मृत्यु, रोग-विष को हरनेवाली, उनका निवारण करनेवाली परम औषधि है।

आपके पंचकल्याणकों के अवसर पर तीनों लोकों में साता की, आनन्द की लहर दौड़ जाती है। आप विष्णु हैं, ज्ञान के गगन हैं - अनन्त और असीम; जिष्णु - अपने आपको, कर्मरूपी शत्रुओं को जीतनेवाले हैं, दिगम्बर हैं, बुद्धिमान हैं - ज्ञानी हैं और कल्याणकारी हैं, मंगल हैं, यह कहकर ध्यान करनेवाले/ध्यानी/ध्याता आपका ध्यान करते हैं।

सभी द्रव्य, गुण, पर्याय और उनकी परिणति आपके ज्ञान में स्पष्ट झलकते हैं, उन्हें आप युगपत (एकसाथ) सहज ही अपने ज्ञान में झलकता देखते हैं। आपसे कुछ भी अनजाना, छुपा हुआ नहीं है। दौलतराम के मन में यह आशा है कि आप अपने समान मुझे भी आत्म-रससिक्त करो अर्थात् हमें भी अपने समान आत्म-रस से पूर्ण कर दो।

(४)

हे जिन तेरे मैं शरणै आया।
तुम हो परमदयाल जगतगुरु, मैं भव भव दुःख पाया॥ हे जिन.॥

मोह महादुठ घेर रह्यौ मोहि, भवकानन भटकाया।
नित निज ज्ञानचरननिधि विसर्‌यो, तन धनकर अपनाया॥ १॥ हे जिन.॥

निजानंदअनुभवपियूष तज, विषय हलाहल खाया।
मेरी भूल भूल दुखदाई, निमित मोहविधि थाया॥ २॥ हे. जिन.॥

सो दुठ होत शिथिल तुमरे ढिग, और न हेतु लखाया।
शिवस्वरूप शिवमगदर्शक तुम, सुयश मुनीगन गाया॥ ३॥ हे जिन.॥

तुम हो सहज निमित जगहितके, मो उर निश्चय भाया।
भिन्न होहुं विधितैं सो कीजे, 'दौल' तुम्हैं सिर नाया॥ ४॥ हे जिन.॥

हे जिनदेव! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैंने जन्म-जन्मान्तरों में अनेक दुख पाए हैं। आप परम दयालु हैं, कृपालु हैं। मुझे अति दुष्ट मोह ने घेरकर इस संसार-समुद्र में बहुत भटकाया है, जिसके कारण मैं अपने ज्ञान और आचरण-रूपी निधि-संपत्ति को भी भूल गया और तन-धन को ही महत्त्वपूर्ण मानकर इन्हें ही अपनाता रहा, उनमें ही रत रहा।

अपने आत्मा के आनन्द की अमृत-सरीखी अनुभूति को छोड़कर, हलाहल-विष का सेवन करता रहा। मेरी यह भूल अत्यन्त दुःखमयी है, जिसके लिए मैंने मोहनीय कर्म को निमित्त ठहराया है।

वह दुष्ट आपके ही समीप शिथिल हुआ है, आपके अतिरिक्त अन्य कोई इसका आधार/हेतु नहीं है। आप साक्षात् मोक्ष-स्वरूप को/मोक्षमार्ग को दिखानेवाले हैं, मुनिजन सदैव आपका यशगान करते हैं, स्तुति करते हैं, वंदना-स्मरण करते हैं।

आप जगत के कल्याण के लिए सहज निमित्त कारण हो, यह मुझे निश्चय हो गया है। दौलतराम शीश नमाकर (नमाते हुए) कहते हैं कि ऐसा कीजिए जिससे मैं कर्म-शृंखला से सर्वथा अलग हो सकूँ, छूट सकूँ।

सुगुन ग्राम = गुणों के स्थान; सुगुन दाम = गुणों की माला; घाम = तीव्रधूप; खाम = कमी।

(५)

मैं आयौ, जिन शरन तिहारी।
मैं चिरदुखी विभावभावतैं, स्वाभाविक निधि आप विसारी॥ मैं.॥

रूप निहार धार तुम गुन सुन, वैन होत भवि शिवमगचारी।
यौं मम कारज के कारन तुम, तुमरी सेव एक उर धारी॥ १॥

मिल्यौ अनन्त जन्मतैं अवसर, अब विनऊँ हे भवसरतारी।
परम इष्ट अनिष्ट कल्पना, 'दौल' कहै झट मेट हमारी॥ २॥

हे जिनेन्द्र! मैं आपकी शरण में आया हूँ। मैं (आप जैसी) अपनी स्वाभाविक निधि को भूलकर अपने ही विभावों के कारण अनादिकाल से - दीर्घकाल से दु:खी हूँ।

आपके सुन्दर रूप को देखकर, आपके गुणों को हृदय में धारणकर, आपके वचनामृत को सुनकर भव्यजन मोक्ष-मार्ग पर गमन करते हैं। मैं अपने स्वरूप में स्थिर हो सकूँ, इस कार्य के सम्पन्न होने के लिए आप ही कारण हो, आप ही निमित्त हो; इसलिए आपका स्मरण-वन्दन ही हृदय में धारण करने योग्य है।

अनन्त जन्मों के बाद/अनेक जन्मों के बाद ऐसा अवसर मिला है, आप भव से तारनेवाले हो, अब यह निश्चय करके आपकी वन्दना करता हूँ। दौलतराम विनती करते हैं कि हे भगवन! अब हमारी इष्ट और अनिष्ट की भावना तुरन्त मिट जाय अर्थात् राग-द्वेष की भावना नष्ट हो जाय।

(६)

जाऊँ कहाँ तज शरन तिहारे ॥ टेक ॥

चूक अनादितनी या हमारी, माफ करो करुणागुण धारे ॥ १ ॥

डूबत हों भवसागरमें अब, तुम बिन को मुह वार निकारे ॥ २ ॥

तुम सम देव अवर नहिं कोई, तातैं हम यह हाथ पसारे ॥ ३ ॥

मो-सम अधम अनेक उधारे, वरनत हैं श्रुत शास्त्र अपारे ॥ ४ ॥

'दौलत' को भवपार करो अब, आयो है शरनागत थारे ॥ ५ ॥

हे प्रभु! मैं आपकी शरण को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जाऊँ? मैं अब तक आपकी शरण में नहीं आया - अनादि काल से मेरी यह ही चूक/गलती रही है। हे करुणागुण के धारक! इसके लिए मुझे क्षमा करो।

मैं भव-सागर में/संसार में डूब रहा हूँ, आपके अतिरिक्त कौन है जो मुझे इससे बाहर निकाल सके !

आपके समान अन्य कोई देव नहीं है, जिसके आगे हम हाथ पसारकर याचना कर सकें।

आपने मेरे समान अनेक पापियों को पार उतार दिया है, गुरु और शास्त्र इसका वर्णन करते हैं।

दौलतराम कहते हैं कि मुझे भी अब भव से/संसार से/जन्म-मरण की भटकन से पार लगाइए, मुक्त कीजिए। मैं अब आपकी शरण में आया हूँ · आ गया हूँ।

(७)

हे जिन मेरी, ऐसी बुधि कीजै॥ टेक॥

रागद्वेषदावानलतें बचि, समतारसमें भीजै॥ १॥ हे जिन.॥

परकों त्याग अपनपो निजमें, लाग न कबहूं छीजै॥ २॥ हे जिन.॥

कर्म कर्मफलमाहि न राचै, ज्ञानसुधारस पीजै॥ ३॥ हे जिन.॥

मुझ कारज के तुम कारन वर, अरज 'दौल' की लीजै॥ ४॥ हे जिन.॥

हे जिनेन्द्र देव! मेरी ऐसी बुद्धि हो जिससे मैं राग-द्वेषरूपी अग्नि से बचकर समतारूपी रस में भीज जाऊँ।

स्व से परे जो पर है, अन्य है उसको छोड़कर मैं अपनी आत्मा में ही रमण करूँ और वह आदत-लाग मेरी कभी भी न छूटे, मेरी ऐसी बुद्धि हो।

कर्म और उसके फल की ओर मेरी कभी रुचि न हो और मैं सदैव ज्ञानरूपी अमृत का पान करता रहूँ अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप में सदा लीन रहूँ, मेरी ऐसी बुद्धि हो।

निज-रूप की, स्वरूप की पहचान के लिए मुझे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो। इसके लिए आप ही श्रेष्ठ कारण हो; साधन हो अर्थात् आपका गुण-चिंतवन मुझे अपने गुणों की प्रतीति कराता रहे। दौलतराम कहते हैं कि यह ही उनकी विनती है, अरज है, उसे स्वीकार कीजिए।

लाग = आदत।

(८)

आज मैं परम पदारथ पायौ, प्रभुचरनन चित लायौ ॥ टेक ॥
अशुभ गये शुभ प्रगट भये हैं, सहजकल्पतरु छायौ ॥ १ ॥ आज. ॥
ज्ञानशक्ति तप ऐसी जाकी, चेतनपद दरसायो ॥ २ ॥ आज. ॥
अष्टकर्म रिपु जोधा जीते, शिव अंकूर जमायौ ॥ ३ ॥ आज. ॥

आज मुझे परम पदार्थ की/श्रेष्ठ पदार्थ की प्राप्ति हुई है, बोधि हुई है कि मेरा चित्त प्रभु के चरणों में लगा है।

अब सब अशुभ संयोग मिट गए हैं, समाप्त हो गए हैं और शुभ संयोग प्रकट हुए हैं जिससे मुझे प्रभुरूपी कल्पवृक्ष सहज ही मिल गया है।

जिनका ज्ञान व तप ऐसा है कि उनके दर्शन से अपने आत्मस्वरूप का भान/दर्शन होने लगा है - ऐसे प्रभु के चरणों में चित्त लगा है।

जिन्होंने आठ कर्मरूपी योद्धा शत्रुओं को जीतकर मोक्षरूपी अंकुर को दृढ़ किया है ऐसे प्रभु के चरणों में मेरा चित्त लगा है।

(९)

जिनवर-आनन-भान निहारत, भ्रमतमघान नसाया है॥ टेक॥

वचन-किरन-प्रसरनतैं भविजन, मनसरोज सरसाया है।
भवदुखकारन सुखविसतारन, कुपथ सुपथ दरसाया है॥ १॥

निनसाई कज जलसरसाई, निशिचर समर दुराया है।
तस्कर प्रबल कषाय पलाये, जिन धनबोध चुराया है॥ २॥

लखियत उडु न कुभाव कहूं अब, मोह उलूक लजाया है।
हंस कोक को शोक नश्यो निज, परनतिचकवी पाया है॥ ३॥

कर्मबंध-कजकोष बंधे चिर, भवि-अलि मुंचन पाया है।
'दौल' उजास निजातम अनुभव, उर जग अन्तर छाया है॥ ४॥

श्री जिनेन्द्र के मुखरूपी सूर्य के दर्शन से भ्रमरूपी अंधकार के बादल विघट जाते हैं, बिखर जाते हैं अर्थात् अज्ञान दूर हो जाता है।

उनकी दिव्यध्वनिरूपी किरण के प्रसार से भव्यजनों के मनरूपी कमल खिल उठते हैं। उस दिव्यध्वनि में कुपथ जो भव-दुःख का कारण है और सुपथ - जो सुख का विस्तार करनेवाला है, दोनों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देने लगता है अर्थात् दोनों का अन्तर स्पष्ट दरशाया/बताया है।

अज्ञानरूपी काई ज्ञानरूपी जल से नष्ट हो जाती है, वातावरण में सर्वत्र सरसाई-नमी-ठंडक आ जाती है। जैसे - रात्रि को जागृत रहनेवाले उल्लू उजाला होने पर प्रतिरोध छोड़कर भाग जाते हैं वैसे ही जिनेन्द्ररूपी सूर्य के दर्शन से वे कषायरूपी तस्कर-लुटेरे भाग जाते हैं जिन्होंने ज्ञानरूपी धन को चुराया है।

ज्ञानरूपी सूर्योदय होने पर न तारेरूपी क्षुद्र भाव दिखाई देते हैं, न खोटे भाव जागृत होते हैं और मोहरूपी उल्लू लज्जित हो जाता है। सूर्य का प्रकाश होने पर जैसे चकवे का विरहरूपी शोक नष्ट हो जाता है और चकवी से उसकी भेंट हो जाती है उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश होते ही आत्मारूपी हंस का शोक-विरह

नष्ट हो जाता है और वह अपनी स्वभाव-परिणतिरूप चकवी को प्राप्त कर लेता है।

सूर्य का उजास होने पर कमल पुष्प के खिल जाने से जैसे कमल-पुष्प में जकड़ा हुआ भ्रमर मुक्त हो जाता है उसी प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य के दर्शन के उजास से भव्यात्मा कर्मबंध से मुक्त हो जाता है। दौलतराम कहते हैं कि आत्मानुभव के उजास में अपना व जगत का, निज और पर का अंतर अनुभव में आता है।

आनन - चेहरा; कज = काई; स्मर - कामदेव; तस्कर - चोर; उडु = तारे; हंस - आत्मा; कोक = चकवा; मुंचन = छुटकारा पाना।

(१०)

त्रिभुवनआनन्दकारी जिन छवि, थारी नैननिहारी॥ टेक॥

ज्ञान अपूरब उदय भयो अब, या दिनकी बलिहारी।
मो उर मोद बडो जु नाथ सो, कथा न जात उचारी॥ १॥

सुन घनघोर मोरमुद ओर न, ज्यों निधि पाय भिखारी।
जाहि लखत झट झरत मोह रज, होय सो भवि अविकारी॥ २॥

जाकी सुंदरता सु पुरन्दर-शोभ लजावनहारी।
निज अनुभूति सुधाछवि पुलकित, वदन मदन अरिहारी॥ ३॥

शूल दुकूल न बाला माला, मुनि मन मोद प्रसारी।
अरुन न नैन न सैन भ्रमै न न, बंक न लंक सम्हारी॥ ४॥

तातैं विधि विभाव क्रोधादि न, लखियत हे जगतारी।
पूजत पातकपुंज पलावत, ध्यावत शिवविस्तारी॥ ५॥

कामधेनु सुरतरु चिंतामनि, इकभव सुखकरतारी।
तुम छवि लखत मोदतैं जो सुर, सो तुमपद दातारी॥ ६॥

महिमा कहत न लहत पार सुर, गुरुहूकी बुधि हारी।
और कहै किम 'दौल' चहै इम, देहु दशा तुमधारी॥ ७॥

हे जिनेन्द्र! आपकी शान्तमुद्रा तीनलोक को सुखी करनेवाली है, आनन्दित करनेवाली है। मैंने भी उस मुद्रा को अपने नैनों से निहारा है - देखा है, मैंने भी आपकी उस आनन्दमयी मुद्रा के दर्शन किये हैं।

जो अब से पहले कभी नहीं हुआ था, वह ज्ञान मुझे अब हुआ है। आज का दिन श्रेष्ठ है, बलिहारी है, समर्पण है इस दिन के प्रति। मेरे हृदय में जो आनन्द उमड़ रहा है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार बादलों की गरज से मोर मुदित हो जाते हैं; प्रसन्न हो जाते हैं, उसकी प्रसन्नता का कोई अन्त ही नहीं रहता; जैसे भिखारी को धन प्राप्ति से प्रसन्नता होती है उसी प्रकार जिनेन्द्र के दर्शन से तुरन्त ही मोहरूपी धूल झड़ जाती है अर्थात् मोह का नाश होता है और भव्यजनों के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं।

जिनकी सुन्दरता को देखकर इन्द्र भी लजाता है, ऐसी अद्भुत सुन्दरता के धारी आपके दर्शनकर अपनी अनुभूति/स्वानुभूति अमृतरस सी उमड़ने लगती है, जो कामदेव जैसे शत्रु को भी पराजित करती है।

आपके पास/साथ न कोई त्रिशूल है, न वस्त्र है, न कोई स्त्री है और न कोई माला है, फिर भी आपकी मुद्रा मुनियों के मन को आनन्द से भरनेवाली है/आनन्द देनेवाली है। जिसके क्रोध से नेत्र लाल नहीं है अर्थात् जिनके क्रोध नहीं है, न कोई चिह्न है और न कोई भ्रम या धोखा और न शरीर की कोई टेढ़ी चितवन है।

हे जगतारी! इस प्रकार आपके कोई क्रोध आदि विभाव भी दिखाई नहीं देते, आपकी पूजा से पाप के ढेर भी नष्ट हो जाते हैं, हट जाते हैं और ध्यान से मोक्ष की ओर विस्तार होता है। कामधेनु, कल्पवृक्ष और चिन्तामणिरत्न केवल एक भव को ही सुखी बनानेवाले हैं किन्तु आप महान दानी हैं। आप ऐसे दातार हैं कि जो प्रसन्नता से आपकी छवि लखता है आप उन्हें अपने समान पद प्रदान कर देते हैं।

देवगण भी आपकी महिमा का वर्णन नहीं कर पाते, देवताओं के गुरु वृहस्पति भी आपकी महिमा का वर्णन करने में सक्षम नहीं। दौलतराम कहते हैं कि मैं आपसे इसके अलावा क्या चाहूँ कि मुझे आपके समान पद की प्राप्ति हो।

ओर = अन्त, मोड़।

(११)

निरखत जिनचन्द्र-वदन, स्वपदसुरुचि आई ॥ टेक ॥
प्रगटी निज आनकी, पिछान ज्ञान भानकी,
कला उदोत होत काम, जामिनी पलाई ॥ १ ॥
सास्वत आनन्द स्वाद, पायो विनस्यो विषाद,
आनमें अनिष्ट इष्ट, कल्पना नसाई ॥ २ ॥
साधी निज साधकी, समाधि मोहव्याधिकी,
उपाधिको विराधिकैं, अराधना सुहाई ॥ ३ ॥
धन दिन छिन आज सुगुनि, चिंतें जिनराज अबै,
सुधरे सब काज 'दौल', अचल सिद्धि पाई ॥ ४ ॥

चन्द्रमा के समान सुन्दर जिनेन्द्र के रूप के दर्शन से स्वपद की रुचि जागृत हुई है अर्थात् पुद्गल से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप की बोधि हुई है।

स्व की व पर-अन्य की पहचान व अनुभूतिरूपी ज्ञानसूर्य के उदित होते ही कामनाओं-इच्छाओंरूपी रात्रि भाग गई और निजस्वरूप की बोधि हुई है।

अपने अखण्ड व नित्य आत्मानुभूति के स्वाद से सब प्रकार के विषाद मिट गए हैं और पर अर्थात् पुद्गल के प्रति हो रही इष्ट व अनिष्ट की सारी कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं।

अपने आत्म-स्वभाव की साधना से, चिन्तन से मोहरूपी व्याधि समाधि में अन्तर्लीन हो गई है, समा गई है। सभी उपाधियों को छोड़कर, स्वभाव की आराधना भली लगने लगी है।

आज का यह क्षण, यह दिन अत्यन्त शुभ है, धन्य है, गुण सहित है कि जिनराज के स्वरूप का चिन्तन होने लगा है। दौलतराम कहते हैं कि मैंने यह अचल व स्थायी सिद्धि पा ली है, अब मेरे सभी कार्य सिद्ध हो जाएँगे, सुधर जाएँगे, ठीक हो जाएँगे।

जामिनी - यामिनी = रात्रि।

(१२)

निरखत जिनचंद री माई ॥ टेक ॥

प्रभुदुति देख मंद भयौ निशिपति, आन सु पग लिपटाई।
प्रभु सुचंद वह मन्द होत है, जिन लखि सूर छिपाई।
सीत अद्‌भुत सो बताई ॥ १ ॥ निरखत. ॥

अंवर शुभ्र निजंतर दीसै, तत्त्वमित्र सरसाई।
फैलि रही जग धर्म जुन्हाई, चारन चार लखाई।
गिरा अमृत जो गनाई ॥ २ ॥ निरखत. ॥

भये प्रफुल्लित भव्य कुमुदमन, मिथ्यातम सो नसाई।
दूर भये भवताप, सबनिके, बुध अंबुध सो बढ़ाई।
मदन चकवेकी जुदाई ॥ ३ ॥ निरखत. ॥

श्रीजिनचंद बन्द अब 'दौलत', चितकर चन्द लगाई।
कर्मबन्ध निर्बन्ध होत हैं, नागसुदमनि लखाई।
होत निर्विष सरपाई ॥ ४ ॥ निरखत. ॥

श्री जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा की ओर देखो - उसके दर्शन करो।

उस प्रभु के सुन्दर रूप के समक्ष, चन्द्रमा भी फीका लगने लगा और मानो आकर वह पाँवों में पड़ गया है। प्रभुरूपी चन्द्रमा के समक्ष वह कांतिरहित हो गया और उसे देखकर सूर्य भी छुप गया है, जिससे अद्‌भुत शीतलता का संचार हो रहा है।

अमृत सी दिव्य-ध्वनि झर रही है उससे निज अंतररूपी आकाश निर्मल, स्वच्छ, शुभ्र दिखाई देने लगा है जिससे तत्वरूपी मित्र शोभित हुआ है, शोभा को - वृद्धि को प्राप्त हुआ है। जगत में चारों ओर धर्मरूपी चाँदनी छिटक रही है, फैल रही है, चारों दिशाओं में उसका यश फैल रहा है।

उस चाँदनी में भव्यजनों के मनरूपी कमल प्रफुल्लित हो गए हैं, मिथ्यात्वरूपी अंधकार नष्ट हो गया है। सभी प्राणियों की संसार की तपन दूर हो चली है और ज्ञानरूपी जल ज्वार की भाँति बढ़ने लगा है। चन्द्रमा को देख कामरूपी चकवा भी जुदा/दूर हो चला है।

दौलतराम कहते हैं कि प्रफुल्लित होकर श्री जिनेन्द्ररूपी चन्द्रमा से अपने चित्त को जोड़ो जिससे कर्मबन्धन खुल जाए और नागदमनी को हृदय में धारण करो जिससे मोहरूपी सर्प विषरहित हो जाए, निर्विष हो जाए।

जुन्हाई = चाँदनी; अंबुद = जल; बंद = बाँधना, जोड़ना; चंद = प्रफुल्लित होना; नागदमनी = नाग को वश में करने की विद्या।

(१३)

निरखत सुख पायौ जिन मुखचन्द ॥ टेक ॥

मोह महातम नाश भयौ है, उर अम्बुज प्रफुलायौ।
ताप नस्यौ बढि उदधि अनन्द ॥ १ ॥ निरखत. ॥

चकवी कुमति बिछुर अति विलखै, आतमसुधा स्रवायौ।
शिथिल भए सब विधिगनफन्द ॥ २ ॥ निरखत. ॥

विकट भवोदधिको तट निकट्यौ, अघतरुमूल नसायौ।
'दौल' लह्यौ अब सुपद स्वछन्द ॥ ३ ॥ निरखत. ॥

श्री जिनेन्द्र के मुखरूपी चन्द्रमा के दर्शन पाकर अतीव सुख की अनुभूति हुई अर्थात् अत्यन्त सुख मिला।

मोहरूपी महान अंधकार का नाश हो गया, जिससे हृदयरूपी कमल विकसित हुआ है, आनन्दित हुआ है। तनाव का ताप नष्ट हो गया है और आनन्द का सागर उमड़ने लगा है।

कुमतिरूपी चकवी आत्मारूपी चकवे से बिछुड़ने से विरह के कारण दु:खी होकर रोने लगी है। आत्मा में अमृतरस झरने लगा है। कर्म के बंधन अब ढीले पड़ने लगे हैं।

अपार और दुष्कर संसार-समुद्र का तट निकट दीखने लगा है और पापरूपी वृक्ष का मूल आधार 'मोह' का नाश हुआ है। दौलतराम कहते हैं कि अब विभावों के तनाव से मुक्त, निजस्वरूप की स्वतंत्रता की प्रतीति/प्राप्ति होने लगी है।

(१४)

मैं हरख्यौ निरख्यौ मुख तेरो।
नासान्यस्त नयन भ्रू हलय न, वयन निवारन मोह अंधेरो॥ मैं॥

परमें कर मैं निजबुधि अब लों, भवसरमें दुख सह्यौ घनेरो।
सो दुख भानन स्वपर पिछानन, तुमविन आन न कारन हेरो॥ १॥

चाह भई शिवराहलाहकी, गयौ उछाह असंजमकेरो।
'दौलत' हितविराग चित आन्यौ, जान्यौ रूप ज्ञानदृग मेरो॥ २॥

मैं आपके दर्शन करके हर्षित हुआ। आपकी नासाग्र दृष्टि, स्थिर भौंहें और आपके वचन मेरे मोहरूपी अंधकार का निवारण करते हैं, नाश करते हैं।

अपने स्वभाव से च्युत होकर, मैं पर में, अन्य में ही अपनापन मानता रहा, समझता रहा और इस भव-समुद्र में/संसार में बहुत दुःख सहे। उन दुःखों की अनुभूति और स्व-पर की समझ-पहचान के लिए आपके समान कोई निमित्त अन्यत्र ढूँढ़ने से भी नहीं मिला।

मुझे मुक्ति-लाभ की, मोक्ष की राह की अब चाह हुई है, रुचि जागृत हुई है और असंयम के प्रति मेरा उत्साह अब समाप्त हो गया है। दौलतराम कहते हैं मेरे चित्त में यह विश्वास हो गया है कि मेरा हित वैराग्य में ही है, विरागता में ही है और तभी मुझे अपने दर्शन-ज्ञान-स्वरूप का ज्ञान हुआ है।

नासान्यस्त नयन = नाक के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करना; लाह = लाभ।

(१५)

दीठा भागनतैं जिनपाला, मोहनाशनेवाला॥ टेक॥
सुभग निशंक रागविन यातैं, बसन न आयुधवाला॥ १॥
जास ज्ञानमें युगपत भासत, सकल पदारथमाला॥ २॥
निजमें लीन हीन इच्छा पर, हितमितवचन रसाला॥ ३॥
लखि जाकी छवि आतमनिधि निज, पावत होत निहाला॥ ४॥
'दौल' जासगुन चिंतत रत है, निकट विकट भवनाला॥ ५॥

अहोभाग्य मेरे कि मुझे जिनपाला (अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक के जीवों के रक्षक), जिसने मोह का नाश कर दिया है, के दर्शन का सौभाग्य मिला है अर्थात् उनके दर्शन हुए हैं।

वे जिनपाला निशंक हैं अर्थात् जिन्हें किसी प्रकार शंका नहीं है, वीतरागी हैं, सुडौल शरीरवाले हैं, उनके साथ किसी स्त्री का साथ नहीं और न वे कोई हथियार-शस्त्र धारण किए हुए हैं। जिनके ज्ञान में सभी पदार्थ युगपत झलकते हैं।

वे निज-स्वरूप में ही लीन हैं, आत्मनिष्ठ हैं, उन्हें पर की/अन्य की कोई इच्छा नहीं है, वे हित-मित वचनवाले हैं, सम्पूर्ण रस से भरपूर हैं।

जिसके दर्शन से अपनी आत्मसंपदा के दर्शन होते हैं, प्राप्ति होती है। जिसे पाकर सब धन्य हो जाते हैं।

दौलतराम कहते हैं कि उनके गुणों का चिंतवन करने से, उसमें रत-मगन रहने से, यह दुष्कर भव-समुद्र नाले के समान छोटा-सा रह जाता है और उसका भी अन्त समीप आ जाता है।

जिनपाला = चौथे गुणस्थान (अविरत सम्यक्त्व) से बारहवें गुणस्थान (क्षीणमोह) तक के जीवों को 'एकदेश जिन' कहा जाता है; उनका रक्षक 'जिन-पाला' कहलाता है।

(१६)

शिवमगदरसावन रावरो दरस॥ टेक॥

परमपद-चाह-दाह-गद-नाशन, तुम बचभेषज-पान सरस॥ १॥

गुणचितवत निज अनुभव प्रगटै, विघटै विधिठग दुविध तरस॥ २॥

'दौल' अवाची संपति सांची, पाय रहै थिर राच सरस॥ ३॥

हे भगवन्! आपके दर्शन - मोक्षमार्ग-प्रकाशक हैं, मोक्ष का मार्ग दिखानेवाले हैं।

पुद्गल की चाहरूपी दाह का, विष का, रोग का नाश करनेवाले आपके सुवचन - परम औषधिरूप हैं जिनका सेवन, चिन्तन, मनन, अनुगमन सरस है, रस से भरा हुआ है।

आपके गुण-चिंतवन से निज के गुणों का भान होता है, हममें भी वे गुण प्रकट होते हैं और पाप-पुण्यरूपी कर्म-ठग तरस कर भाग जाते हैं।

दौलतराम कहते हैं कि अव्यक्त, अकथ व अवर्णनीय - जिसका कथन नहीं किया जा सकता ऐसी आत्मगुणों की संपत्ति को पाकर उसमें स्थिर हो जाओ अर्थात् अपने निज स्वरूप में मगन हो जाओ, जो रस से भरपूर है।

रावरो - आपका

(१७)

जिन छवि तेरी यह, धन जगतारन॥ टेक॥
मूल न फूल दुकूल त्रिशूल न, शमदमकारन भ्रमतमवारन॥ जिन.॥

जाकी प्रभुताकी महिमातैं, सुरनधीशिता लागत सार न।
अवलोकत भविथोक मोख मग, चरत चरत निजनिधि उरधारन॥ १॥

जजत भजत अघ तौ को अचरज? समकित पावन भावनकारन।
तासु सेव फल एव चहत नित, 'दौलत' जाके सुगुन उचारन॥ २॥

हे जिनेन्द्र! धन्य है तेरी यह छवि/मुद्रा, जो जग से पार उतारनेवाली है। जिसके न कोई जटा या वल्कल है, न पुष्पमाल है; न वस्त्र है - न त्रिशूल है। यह (आपकी छवि) भ्रमरूपी अंधकार को दूर करनेवाली, शान्ति और संयम की साक्षात् प्रतिमूर्ति है।

आपकी प्रभुता की, स्वामीपने की महिमा के आगे इन्द्र का पद भी सारहीन, फीका लगता है। भव्यजनों का समूह जिसे देखकर मोक्ष का मार्ग देखता है और वैसा आचरण कर अपनी आंतरिक निधि को धारण कर लेता है, पा लेता है।

आपकी पूजा करने से पाप दूर हो जाते हैं, भाग जाते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है! उससे सम्यक्त्व प्रकट होता है और भाव पवित्र होते हैं। दौलतराम यह फल पाने हेतु आपके गुणगान व भक्तिसेवा नित्य प्रति करना चाहते हैं।

मूल = जटा, वल्कल, छाल; दुकूल = वस्त्र; दमकारण - संयम, इन्द्रियों का दमन करनेवाला; जजत = पूजा करना; सुरनधीशिता = इंद्रपद।

(१८)

प्यारी लागै म्हाने जिन छवि थारी॥ टेक॥

परम निराकुलपद दरसावत, वर विरागताकारी।
पट भूषन विन पै सुन्दरता, सुरनरमुनिमनहारी॥ १॥

जाहि विलोकत भवि निज निधि लहि, चिरविभावता टारी।
निरनिमेषतैं देख सचीपती, सुरता सफल विचारी॥ २॥

महिमा अकथ होत लख ताकी, पशु सम समकितधारी।
'दौलत' रहो ताहि निरखनको, भव भव टेव हमारी॥ ३॥

हे जिनेश्वर! आपकी यह मुद्रा, यह छवि हमें प्यारी लगती है, भली लगती है।

यह निराकुल पद को दिखानेवाली और श्रेष्ठ विरागता को उत्पन्न करनेवाली है। वस्त्र व आभूषण-रहित मुद्रा अर्थात् दिगम्बर मुद्रा की नैसर्गिक सुन्दरता सुर, नर और मुनियों के मन को हरनेवाली है, आकर्षित करनेवाली है।

जिनके दर्शन से अपने स्वरूप-निधि की प्राप्ति होती है और अनादि से चली आ रही विभावों की शृंखला टल जाती है। जिनकी ओर अपलक निहारकर इन्द्र ने अपने इन्द्रपद को धन्य माना, सफल माना।

आपकी अकथ - कही न जा सकनेवाली महिमा को देखकर, पशु-समान वृत्ति भी समतारूप हो जाती है। दौलतराम कहते हैं कि हे भगवन! जन्म-जन्म में मैं आपके दर्शन करता ही रहूँ यह मेरा स्वभाव - आदत बन जाए।

सुरता = देव पर्याय, होश।

(१९)

जिन छवि लखत यह बुधि भयी ॥ टेक ॥
मैं न देह चिदंकमय तन, जड़ फरसरसमयी ॥ जिन. ॥

अशुभशुभफल कर्म दुखसुख, पृथकता सब गयी।
रागदोषविभावचालित, ज्ञानता थिर थयी ॥ १ ॥ जिन. ॥

परिगह न आकुलता दहन, विनशि शमता लयी।
'दौल' पूरवअलभ आनँद, लह्यौ भवथिति जयी ॥ २ ॥ जिन. ॥

श्री जिनेन्द्र की छवि के दर्शन करने से मुझे यह ज्ञान हुआ कि मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, मैं देह नहीं हूँ, यह तन जड़ पुद्गल है, स्पर्श-रसवाला है।

अशुभकर्मों का फल दुःख व शुभकर्मों का फल सुख है, अब यह सब अन्तर समाप्त हो गया। राग व द्वेष दोनों आत्मा के विभाव से संचालित हैं - अब ज्ञान-स्वभाव में स्थिरता हुई है।

परिग्रह जो आकुलता की आग है, उसको नष्ट कर शान्ति हुई। दौलतराम कहते हैं कि पहले जो कभी नहीं मिला, वह संसार को जीतनेवाली आनन्द की स्थिति अब हुई है।

अलभ - अ+लभ = न पाया हुआ, अलभ्य, कठिनता से पाने योग्य।

(२०)

ध्यानकृपान पानि गहि नासी, त्रेसठ प्रकृति अरी।
शेष पचासी लाग रही है, ज्यौं जेवरी जरी॥ ध्यान.॥

दुठ अनंगमातंगभंगकर, है प्रबलंगहरी।
जा पदभक्ति भक्तजनदुख-दावानल मेघझरी॥ १॥ ध्यान.॥

नवल धवल पल सोहै कलमें, क्षुधतृषव्याधि टरी।
हलत न पलक अलक नख बढत न गति नभमाहिं करी॥ २॥ ध्यान.॥

जा विन शरन मरन जर धरधर, महा असात भरी।
'दौल' तास पद दास होत है, वास मुक्तिनगरी॥ ३॥ ध्यान.॥

इस पद में अरिहन्त की भक्ति की गई है जिन्होंने ध्यानरूपी तलवार हाथ में लेकर कर्मों की तिरेसठ प्रकृतियों का नाश कर दिया है. शेष पिचासी प्रकृतियाँ जली हुई जेवड़ी (रस्सी) की भाँति रह गई हैं अर्थात् वे अब नवीन कर्म-बंधन नहीं कर सकतीं।

जो कामरूपी दृढ़ हाथी को भंग करने के लिए बलवान सिंह हैं; जिनके चरण-कमलों की भक्ति, भक्तजनों की दु:खरूपी अग्नि को शमन करने के लिए - मेघ की झड़ी के समान है।

जिनके शरीर में श्वेत रक्त है, जिनके क्षुधा व तृषा की बाधा नहीं है। जिनके पलक टिमटिमाते नहीं हैं, न नख बढ़ते हैं और न केश बढ़ते हैं। वे ऊपर आकाश में ही चलते हैं, गमन करते हैं अर्थात् केवलज्ञान होने के पश्चात् वे पृथ्वी से ऊपर गमन करते हैं।

जिनकी शरण के बिना, अनेक बार बुढ़ापा धारण कर-कर के, रोगों से ग्रस्त होकर असाता से, दु:खभरी मृत्यु होती है। दौलतराम कहते हैं कि उनके चरणों में रहने से मुक्तिपुरी में - मोक्ष में रहने का सौभाग्य मिलता है।

पल = मांस व रुधिर; कल - शरीर; अलक = केश की लटें।

(२१)

भविन-सरोरूहसूर भूरिगुनपूरित अरहंता।
दुरित दोष मोष पथघोषक, करन कर्मअन्ता॥ भविन.॥

दर्शबोधतैं युगपतलाखि जाने जु भावऽनन्ता।
विगताकुल जुतसुख अनन्त विन, अन्त शक्तिवन्ता॥ १॥ भविन.॥

जा तनजोतउदोतथकी रवि, शशिदुति लाजंता।
तेजथोक अवलोक लगत है, फोक सचीकन्ता॥ २॥ भविन.॥

जास अनूप रूपको निरखत, हरखत हैं सन्ता।
जाकी धुनि सुनि मुनि निजगुनमुन, पर-गर उगलंता॥ ३॥ भविन.॥

'दौल' तौल विन जस तस वरनत, सुरगुरु अकुलंता।
नामाक्षर सुन कान स्वानसे, रांक नाकगंता॥ ४॥ भविन.॥

हे सर्वगुणसम्पन्न अरिहंत! आप भव्यजनरूपी कमलों को विकसित करनेवाले सूर्य हैं। पापों का नाशकर मोक्ष की राह बतानेवाले हैं। आपने कर्म-राशि का अन्त कर दिया है।

युगपत ज्ञान और दर्शन से आपने अनन्त भावों को देखा व जान लिया है। आप निराकुल सुख के और अनन्त बल के धारी हो।

जिनकी तन की द्युति (प्रभा) के समक्ष, रवि/सूर्य का तेज व चन्द्रमा की कान्ति भी लजाती है, फीकी पड़ जाती है। आपके उस अनुपम तेजपुंज को देखने पर इन्द्र जैसे तेजस्वी का तेज भी फीका व हल्का लगता है।

जिनके अद्‌भुत सुन्दर रूप को देखकर संतजन हर्षित होते हैं। जिनकी दिव्यध्वनि को सुनकर मुनिजनों को निज गुणों का भान होता है और वे मिथ्यात्वरूपी विष को उगल देते हैं, बाहर निकाल देते हैं।

जिनके अतुल यश का वर्णन करते हुए सुरगुरु (देवताओं के गुरु) भी थक जाते हैं। दौलतराम कहते हैं कि अपने कानों से उनके नाम के अक्षर सुनकर कुत्ते के समान तुच्छ प्राणी भी स्वर्ग को चले गए हैं।

भविन सरोरूहसूर = भव्य कमलों के हेतु सूर्य; **दुरित** = पाप; युगपत = एकसाथ होनेवाला; **विगताकुल** = विगत हो आकुलता अर्थात् दोषरहित; फोक = फोका; **पर-गर** - विभावरूपी विष; तोल बिना - बिना तोला हुआ, अपरिमित; रांक = रंक/तुच्छ; नाकगंता = स्वर्ग गया।

(२२)

प्रभु थारी आज महिमा जानी ॥ टेक ॥

अबलौं मोह महामद पिय मैं, तुमरी सुधि बिसरानी।
भाग जगे तुम शांति छवी लखि, जड़ता नींद बिलानी ॥ १ ॥ प्रभु. ॥

जगविजयी दुखदाय रागरुष, तुम तिनकी थिति भानी।
शांतिसुधासागर गुन आगर, परमविराग विज्ञानी ॥ २ ॥ प्रभु. ॥

समवसरन अतिशय कमलाजुत, पै निर्ग्रन्थ निदानी।
क्रोधबिना दुठ मोहविदारक, त्रिभुवनपूज्य अमानी ॥ ३ ॥ प्रभु. ॥

एकस्वरूप सकलज्ञेयाकृत, जग-उदास जग-ज्ञानी।
शत्रुमित्र सबमें तुम सम हो, जो दुखसुख फल यानी ॥ ४ ॥ प्रभु. ॥

परम ब्रह्मचारी है प्यारी, तुम हेरी शिवरानी।
ह्वै कृतकृत्य तदपि तुम शिवमग, उपदेशक अगवानी ॥ ५ ॥ प्रभु. ॥

भई कृपा तुमरी तुममेंतैं, भक्ति सु मुक्ति निशानी।
ह्वै दयाल अब देहु 'दौल' को, जो तुमने कृति ठानी ॥ ६ ॥ प्रभु. ॥

हे प्रभु! मैंने आज आपकी महिमा जानी, आज मैं आपके गुणों से परिचित हुआ हूँ। अब तक मैं मोहरूपी शराब को पीकर आपको स्मरण नहीं कर सका - आपके गुण-चिंतवन-स्मरण को भूल गया। अब मेरे भाग्य जगे हैं कि मैंने अज्ञानरूपी निद्रा को नष्ट करनेवाली आपकी शान्त मुद्रा के दर्शन किए हैं।

हे जगत को जीतनेवाले! आपने दु:खदायी राग और द्वेष की वास्तविक स्थिति को समझ लिया है। आप शान्तिरूपी अमृत के सागर, गुणों के भंडार, परम विरागी और युक्तियुक्त कारण-कार्य के विश्लेषक/विज्ञानी हो।

समवशरण में सर्वोत्कृष्ट वैभव के बीच आप पूर्ण अपरिग्रही व परमशुद्ध विराजित हो। क्रोध के बिना ही आपने दुष्ट मोह का नाश किया है। आप त्रिभुवन-पूज्य - तीन लोकों में पूजनीय हो, मानकषायरहित हो।

जग में विमुख-वैरागी होकर भी जगत को जाननेवाले, मात्र अपने ही स्वरूप में लीन, लोक के सब ज्ञेयों को दर्पण की भाँति अपने ज्ञान में झलकानेवाले हो, जानने-देखनेवाले हो और दु:ख-सुख में, शत्रु-मित्र आदि में समता के धारी हो, समानभाव रखनेवाले हो।

आपने परम ब्रह्म की चर्या में लीन होकर मोक्षरूपी लक्ष्मी को पा लिया है, ढूँढ़ लिया है। आप कृतकृत्य हैं, आपको कुछ भी करना शेष नहीं रहा है। फिर भी आप स्वयं मोक्ष-मार्ग को दिखानेवाले उपदेशक व नेता हो। यह आपकी कृपा है, आपकी भक्ति ही मुक्ति का कारण है, चिह्न है। दौलतराम कहते हैं कि हे दयाल! जो कृति-कार्य आपने किया है अर्थात् मोक्षपद पाया है, वह मुझे भी प्राप्त हो।

बिलानो = नष्ट करना; निदानी = शुद्ध; अगवानी = नेता; कृति = कार्य।

(२३)

तुम सुनियो श्रीजिननाथ, अरज इक मेरी जी॥ टेक॥

तुम बिन हेत जगत उपकारी, वसुकर्मन मोहि कियो दुखारी,
ज्ञानादिक निधि हरी हमारी, द्यावौ सो मम फेरी जी॥ १॥

मैं निज भूल तिनहि संग लाग्यो, तिन कृत करन विषय रस पाग्यौ,
तातैं जन्म-जरा दव-दाग्यौ, कर समता सम नेरी जी॥ २॥

वे अनेक प्रभु मैं जु अकेला, चहुँगति विपतिमांहि मोहि पेला,
भाग जगे तुमसौं भयो भेला, तुम हो न्यायनिवेरी जी॥ ३॥

तुम दयाल बेहाल हमारो, जगतपाल निज विरद समारो,
ढील न कीजे बेग निवारो, 'दौलतनी' भवफेरी जी॥ ४॥

हे जिनेन्द्र! मेरी अरज, मेरा निवेदन सुनिए।

आप बिना किसी निजी स्वार्थ के जगत के हितकारी हैं, भला करनेवाले हैं। अष्ट कर्मों ने मुझे दु:खी कर रखा है। हमारे ज्ञान आदि गुणों को हर लिया है, उन पर आवरण कर रखा है। उस स्थिति से मैं दूर हो जाऊँ, फिर जाऊँ, वापस हो जाऊँ इसलिए आपका ध्यान, चिंतवन, स्मरण करता हूँ।

मैं स्व-रूप को भूलकर उन कर्मों के साथ ही लग गया और उनके कारण इंद्रिय-विषयों में ही लगा रहा। जिससे जन्म, रोग एवं बुढ़ापेरूपी दाह में जलता रहा। मुझे अपने समीप लेकर समता से इन्हें शान्त करो।

वे कर्म अनेक हैं और मैं अकेला हूँ। उन्होंने मुझे चारों गतियों में पेला है, पीस दिया है। अब मेरे भाग्य जगे हैं कि मैं आपके साथ आ गया हूँ। आप ही न्याय करके इन सबमें मुझे मुक्त करो - निवेरो।

आप दयालु हैं और हमारा हाल बेहाल है। हे जगतपाल! आप अपनी महिमा अपने विरद को सँभालो। दौलतराम कहते हैं कि बिना कोई देर किए तुरन्त मुझे निवारो; दु:खों से, भवप्रमाण से बाहर निकालो।

(२४)

और अबै न कुदेव सुहावै, जिन थाके चरनन रति जोरी॥टेक॥

कामकोहवश गहैं अशन असि, अंक निशंक धरै तिय गोरी।
औरनके किम भाव सुधारैं, आप कुभाव-भारधर-धोरी॥१॥

तुम विनमोह अकोहछोहविन, छके शांत रस पीय कटोरी।
तुम तज सेय अमेय भरी जो, जानत हो विपदा सब मोरी॥२॥

तुम तज तिनै भजै शठ जो सो दाख न चाखन खात निमोरी।
हे जगतार उधार 'दौलको', निकट विकट भवजलधि हिलोरी॥३॥

हे जिनेन्द्र! मैं आपके चरणों की शरण में आ गया हूँ, अब मुझे अन्य कोई देव नहीं भाते, नहीं सुहाते, अच्छे नहीं लगते।

काम और क्रोध के वशीभूत होकर जो भोगों को स्वीकार करते हैं, शरीर पर अस्त्र-शस्त्र रखते हैं और अपने साथ स्त्री को रखते हैं वे औरों के क्या भाव सुधारेंगे, जो स्वयं ऐसे कुभावों/खोटे भावों का बोझ ढोनेवाले हैं, कुभावों के स्वामी हैं!

आपने मोह का नाश कर दिया है, आप क्रोध और क्षोभ से रहित हैं और शांति-रस का पान करके तृप्त हैं। आपकी भक्ति को छोड़कर हमने अपरिमित विपदाओं को सहा है, उनका उपार्जन किया है, यह आप सब जानते हैं।

आपको छोड़कर जो दुष्ट अन्य की भक्ति करता है, वह (मीठी) दाख को छोड़कर नीम की कड़वी निमोरी खाने के समान है। दौलतराम प्रार्थना करते हैं - हे जगत से पार उतारनेवाले, इस भव-समुद्र की विकट लहरों से हमें बाहर निकालकर हमारा उद्धार करो, अपने निकट लो, अर्थात् हमें भी मोक्ष की प्राप्ति हो।

अंक - गोद; धोरी = मुखिया, प्रधान; कोह = क्रोध; छोह = क्षोभ।

उरग-सुरग-नरईश शीस जिस, आतपत्र त्रिधरे।
कुंदकुसुमसम चमर अमरगन, ढारत मोदभरे॥ उरग.॥

तरु अशोक जाको अवलोकत, शोकथोक उजरे।
पारजातसंतानकादिके, बरसत सुमन वरे॥ १॥ उरग.॥

सुमणिविचित्र पीठअंबुजपर, राजत जिन सुथिरे।
वर्णविगत जाकी धुनिको सुनि, भवि भवसिंधुतरे॥ २॥ उरग.॥

साढ़े बारह कोड़ जातिके, बाजत तूर्य खरे।
भामंडलकी दुतिअखंडने, रविशशि मंद करे॥ ३॥ उरग.॥

ज्ञान अनंत अनंत दर्श बल, शर्म अनंत भरे।
करुणामृतपूरित पद जाके, 'दौलत' हृदय धरे॥ ४॥ उरग.॥

समवशरण में जिनके शीश के ऊपर तीन छत्र हैं, जहाँ कुंद के पुष्प के समान सफेद चंवरों को देवगण ढोरते हैं, सुरेन्द्र, नागेन्द्र व नरेन्द्र उन्हें अपने शीश नमाकर आनन्दित होते हैं।

जो समवशरण में अशोक वृक्ष को देखता है उसके दुःखों का समूह उजड़ जाता है, भंग हो जाता है। संतानक, पारिजातक आदि श्रेष्ठ पुष्पों की वहाँ वर्षा होती है।

वहाँ सुन्दर मणियों से जड़ित-कमलरूपी सिंहासन पर श्री जिनेन्द्रदेव स्थिर होकर विराजमान हैं। उनकी निरक्षरी दिव्यध्वनि को सुनकर भव्यजन इस भव-समुद्र से पार होते हैं, तिर जाते हैं।

(समवशरण में) साढ़े बारह करोड़ जाति के बाजे बजते हैं। उनके भामंडल की आभा सूर्य के तेज व चन्द्रमा की कांति को भी फीका, निस्तेज कर देती है।

उन अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल व अनन्त सुख के धारी अरिहन्त के करुणामयी चरणों को दौलतराम अपने हृदय में धारण करते हैं।

आतपत्र - आतप को दूर करनेवाला छत्र; तूर्य - बाजे।

(२६)

मोहि तारो जी क्यों ना, तुम तारक त्रिजग त्रिकाल में॥टेक॥

मैं भवउदधि पर्‌यौ दुख भोग्यो, सो दुख जात कह्यौ ना।
जामन मरन अनंततनो तुम, जानन माहिं छिप्यो ना॥१॥मोहि.॥

विषय विरसरस विषम भख्यो मैं, चख्यौ न ज्ञान सलोना।
मेरी भूल मोहि दुख देवै, कर्मनिमित्त भलौ ना॥२॥मोहि.॥

तुम पदकंज धरे हिरदै जिन, सो भवताप तप्यौ ना।
सुरगुरुहूके वचनकरनकर, तुम जसगगन नप्यौ ना॥३॥मोहि.॥

कुगुरु कुदेव कुश्रुत सेये मैं, तुम मत हृदय धर्‌यो ना।
परम विराग ज्ञानमय तुम जाने विन काज सर्‌यौ ना॥४॥मोहि.॥

मो सम पतित न और दयानिधि, पतिततार तुम-सौ ना।
'दौलतनी' अरदास यही है, फिर भववास वसौं ना॥५॥मोहि.॥

तीनों कालों में - तीनों लोकों में आप ही तारनेवाले हैं, आप मुझे क्यों नहीं तारते हैं!

मैं इस संसार-समुद्र में पड़ा हूँ, मैंने बहुत दुःख भोगा है, जिनका अब कथन भी नहीं किया जा सकता। मैं अनन्त बार जन्म मरण कर चुका। यह सब आपके ज्ञान में है, आपसे कुछ छुपा हुआ नहीं है।

मैंने विषम व विकारी रस से भरे विषयों का आस्वादन किया और करता ही रहा पर सलोने ज्ञान-विवेक का स्वाद कभी नहीं चखा। यह मेरी भूल, कर्मों का निमित्त पाकर अब मुझे ही दुःखकारी है, दुःख देनेवाली है।

जिन्होंने आपके चरण-कमलों को भावपूर्वक हृदय में धारण किया, वे भव-संसार के ताप से नहीं झुलसे। वृहस्पति के वचनों के द्वारा भी आपके यशरूपी आकाश के विस्तार को मापा नहीं जा सकता।

मैंने कुगुरु, कुदेव व कुशास्त्र की सेवा की, आपके द्वारा प्रसारित धर्म को हृदय में धारण नहीं किया। परन्तु आप परम वीतरागी हैं, ज्ञानमय हैं, सर्वज्ञ हैं, यह जाने बिना मेरा काम नहीं चला।

हे दयानिधि - मेरे समान कोई पापी नहीं है और पापियों का आप जैसा उद्धारक कोई नहीं है। दौलतराम की यह अरज है कि मुझे अब फिर संसार का निवास कभी प्राप्त न हो, इस संसार में रहना न हो।

(२७)

नाथ मोहि तारत क्यों ना? क्या तकसीर हमारी?॥टेक॥

अंजन चोर महा अघकरता, सप्तविसनका धारी।
वो ही मर सुरलोक गयो है, वाकी कछु न विचारी॥१॥नाथ.॥

शूकर सिंह नकुल बानरसे, कौन कौन व्रतधारी?
तिनकी करनी कछु न विचारी, वे भी भये सुर भारी॥२॥नाथ.॥

अष्टकर्म वैरी पूरबके, इन मो करी खुवारी।
दर्शनज्ञानरतन हर लीने, दीने महादुख भारी॥३॥नाथ.॥

अवगुण माफ करे प्रभु सबके, सबकी सुध न विसारी।
'दौलत' दास खड़ा करजोरे, तुम दाता मैं भिखारी॥४॥नाथ.॥

हे नाथ, मुझे क्यों नहीं पार लगाते हो, मेरा उद्धार क्यों नहीं करते हो, मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया?

सातों व्यसनों में रत रहनेवाला अंजन चोर जैसा महान पापी भी व्रत धारण करने से मरकर स्वर्ग में गया, उसके बारे में तो किसी भी प्रकार का कोई विचार नहीं किया !

सूअर, सिंह, नेवला, बंदर, वे कौन से व्रत के धारी थे ? उन्होंने क्या-क्या कर्म किए थे, उनका भी विचार नहीं किया और वे भी स्वर्गों में जाकर जन्मे।

पहले से बँधे हुए अष्टकर्मों ने मुझे अत्यन्त दुःखी किया हुआ है, मेरे दर्शन-ज्ञानरूपी रत्नों को इन्होंने मुझसे छीन लिया है और मुझे बहुत दुःख दिए हैं।

प्रभु! आप सबके दोषों को क्षमा करते हो, सबका कल्याण करते हो, उन्हें भूलते नहीं हो। दौलतराम आपके समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा है -- आप मुक्ति के दाता हैं और मैं याचक।

(२८)

हो तुम त्रिभुवनतारी हो जिन जी, मो भवजलधि क्यों न तारत हो॥टेक॥

अंजन कियौ निरंजन तातैं, अधमउधार विरद धारत हो।
हरि वराह मर्कट झट तारे, मेरी वेर ढील पारत हो॥१॥

यौं बहु अधम उधारे तुम तौ, मैं कहा अधम न मुहि टारत हो।
तुमको करनो परत न कछु शिव, पथ लगाय भव्यनि तारत हो॥२॥

तुम छवि निरखत सहज टरैं अघ, गुण चिंतत विधि-रज झारत हो।
'दौल' न और चहै मो दीजै, जैसी आप भावनारत हो॥३॥

हे तीन लोक को तारनेवाले! हे जिनेन्द्र! भवसागर के मध्य पड़े हुए मुझको क्यों नहीं तारते हो, पार लगाते हो!

अंजन जैसे चोर-पापी को आपने दोषरहित कर दिया। आप अधर्मीजनों का, पापियों का उद्धार करनेवाले हो, ऐसी आपकी ख्याति है, प्रशंसा है, योग्यता है, गुण है। सिंह, शूकर, मगर आदि को आपने अविलम्ब तार दिया, फिर मेरी बार पर क्यों देर लगाते हो!

यों तो आपने बहुत से अधर्मियों को तार दिया, उनका उद्धार कर दिया, दु:खों से बाहर निकाल दिया, तो मैं ही ऐसा कैसा पापी-अधर्मी हो गया कि मुझको नहीं पार लगाते! आपको स्वयं को उसमें कुछ भी नहीं करना पड़ता अर्थात् आप कुछ भी तो नहीं करते, मात्र भव्यजनों को मोक्षमार्ग पर लगा देते हो, उस राह पर आरूढ़ कर देते हो।

आपके दर्शन से सहज ही सब पाप टल जाते हैं, आपके गुणों के चिंतवन से कर्मरूपी रज, धूलि स्वयं ही झड़ जाती है। हे प्रभु! दौलतराम आपसे कुछ भी नहीं चाहते। आप और चाहे कुछ भी मत दीजिए, बस मात्र इतना हो कि मैं भी आपकी जैसी भावना में निरन्तर मगन हो जाऊँ, रत हो जाऊँ।

(२९)

सुधि लीज्यौ जी म्हारी, मोहि भवदुखदुखिया जानके॥टेक॥

तीनलोकस्वामी नामी तुम, त्रिभुवन के दुःखहारी।
गनधरादि तुम शरन लई लख, लीनी सरन तिहारी॥१॥सुधि.॥

जो विधि अरि करी हमरी गति, सो तुम जानत सारी।
याद किये दुख होत हिये ज्यौं, लागत कोट कटारी॥२॥सुधि.॥

लब्धि-अपर्याप्तनिगोद में, एक उसासमंझारी।
जनममरन नवदुगुन विथाकी, कथा न जात उचारी॥३॥सुधि.॥

भू जल ज्वलन पवन प्रतेक तरु, विकलत्रयतनधारी।
पंचेंद्री पशु नारक नर सुर, विपति भरी भयकारी॥४॥सुधि.॥

मोह महारिपु नेक न सुखमय, हो न दई सुधि थारी।
सो दुठ मंद भयौ भागनतैं, पाये तुम जगतारी॥५॥सुधि.॥

यद्यपि विरागि तदपि तुम शिवमग, सहज प्रगटकरतारी।
ज्यौं रविकिरन सहजमगदर्शक, यह निमित्त अनिवारी॥६॥सुधि.॥

नाग छाग गज बाघ भील दुठ, तारे अधम उधारी।
सीस नवाय पुकारत अबके, 'दौल' अधमकी बारी॥७॥सुधि.॥

हे प्रभु! मुझे भव-भव का दुःखी जानकर अब तो मेरी सुधि लीजिए।

आप तीन लोक के स्वामी हैं। तीनों लोकों में आप ही दुःख के हरता हैं, दुःख हरनेवाले हैं। यह देखकर गणधर आदि ने भी आप की शरण ली है।

कर्म-शत्रुओं ने हमारी जो दुर्दशा की है उसे आप भली प्रकार जानते हैं, उस दुर्दशा के स्मरणमात्र से कटार से हुए अनेक घावों के समान पीड़ा होती है।

लब्धिवश अपर्याप्त निगोद अवस्था में एक श्वास मे १८ बार जन्म-मरण किए जिसकी दारुण कथा हमसे कही नहीं जाती।

कभी पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, वृक्ष आदि प्रत्येक वनस्पति हुआ तो कभी दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय और चार इंद्रिय पर्यायें पाईं; कभी पंचेन्द्रिय हुआ, कभी पशु, नरक, मनुष्य व देवगति में जनम लिया और अत्यन्त भयकारी, भय से कँपानेवाले दुःख सहे।

मोह महान शत्रु है, वह किंचित् भी सुख का दाता नहीं है। उसके ही कारण आपसे कभी प्रीति न हो सकी, उसने ही आपकी सुध (स्मरण) नहीं होने दी। अब भाग्यवश उस दुष्ट का प्रभाव मंद हुआ है, जिसके कारण जगत से तारनेवाले आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि आप विरागी हो, फिर भी सहज ही मोक्ष का मार्ग दिखानेवाले हो। जैसे सूर्य की किरण के आते ही सभी मार्ग स्पष्ट दिखाई देते हैं, वैसे ही आप मोक्षमार्ग के लिए अनिवार्य निमित्त हैं।

सर्प, बकरी, हाथी, सिंह, भील आदि दुष्टों का भी आपने उद्धार किया है। दौलतराम शीश नमाकर, पुकारकर यह निवेदन करते हैं कि अब तो मुझ पापी की बारी आई है, मेरी सुधि लीजिए।

(३०)

जय जय जग-भरम-तिमिर, हरन जिन धुनि॥टेक॥

या बिन समुझे, अजौं न, सौंज निज मुनी।
यह लखि हम निजपर अविवेकता लुनी॥१॥जय जय.॥

जाको गनराज अंग, पूर्वमय चुनी।
सोई गही है कुन्दकुन्द, मुख बहु मुनी॥२॥जय जय.॥

जे चर जड भये पीय, मोह बारुनी।
तत्त्व पाय चेते जिन, थिर सुचित सुनी॥३॥जय जय.॥

कर्ममल पखारनेहि, विमल सुरधुनी।
तज विलंब अब करो, 'दौल' उर पुनी॥४॥जय जय.॥

जगत के भ्रमरूपी अंधकार को हरनेवाली, जिनेन्द्र के मुख से निकली दिव्यध्वनि की जय हो - जय हो।

जिसको समझे बिना अब तक, मुनियों को भी अपनी सामर्थ्य/शक्ति का, स्वरूप का ज्ञान न हो सका। इसे समझकर अब स्व-पर के भेदज्ञान बिना हुआ हमारा अविवेक नष्ट होने लगा है।

गणधरदेव ने जिसकी रचना अंग और पूर्व में की, जिसे कुन्दकुन्द आदि प्रमुख मुनियों ने अपने मुख से कही है उस दिव्यध्वनि की जय हो।

मोहरूपी वारुणी (मदिरा) पीकर जो चेतन जड़रूप हो रहे थे, वे इस तत्व को, दिव्यध्वनि को पाकर सचेत हो गए और स्थिर चित्त होकर सुनने लगे।

कर्ममल को धोने के लिए है यह विमल दिव्यध्वनि। दौलतराम कहते हैं कि अब विलम्ब छोड़कर इसे हृदय में धारण करो।

अजौं = अब तक; सौंज = सामर्थ्य, शक्ति; लुनी = तैयार फसल काटना।

(३१)

थारा तो वैना में सरधान घणो छै, म्हारे छवि निरखत हिय सरसावै।
तुमधुनिघन परचहन-दहनहर, वर समता-रस-झर वरसावै॥ थारा.॥

रूपनिहारत ही बुधि ह्वै सो, निजपरचिह्न जुदे दरसावै।
मैं चिदंक अकलंक अमल थिर, इन्द्रियसुखदुख जडफरसावै॥ १॥

ज्ञान विरागसुगुनतुम तिनकी, प्रापतिहित सुरपति तरसावै।
मुनि बड़भाग लीन तिनमें नित, 'दौल' धवल उपयोग रसावै॥ २॥

हे जिनेन्द्र! मुझे आपकी दिव्यध्वनि के प्रति, आपके उपदेश के प्रति अत्यन्त श्रद्धान है। आपके दर्शनों से मेरा मन प्रफुल्लित हो जाता है, भक्ति-आह्लाद से भर जाता है। आपकी दिव्यध्वनि उस मेघ के समान है जो पर की चाहरूपी अग्नि को बुझाकर श्रेष्ठ समतारूपी वर्षा की झड़ी बरसाती है।

आपकी मनोहर छवि के दर्शन करते ही निज और पर की स्पष्ट प्रतीति होती है, ज्ञान होता है, भिन्नता दिखाई देती है कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, कलंकरहित व निर्मल हूँ, स्थिर हूँ; इंद्रिय के सुख व दु:ख तो जड़ के परिणाम हैं, वे जड़ का ही स्पर्श करते हैं अर्थात् चैतन्य धरा को नहीं छू पाते।

आपके समान ज्ञान, वैराग्य और श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति हेतु इन्द्र भी ललचाता रहता है। वे मुनिजन अत्यन्त भाग्यशाली हैं जो उन गुणों में लीन रहते हैं और अपने उपयोग को निर्मल व शुद्ध रखते हैं, उसमें डूबे रहते हैं।

चहन - चाह; चिदंक = चैतन्यस्वरूप।

(३२)

जिनवैन सुनत, मोरी भूल भगी ॥ टेक ॥
कर्मस्वभाव भाव चेतनको, भिन्न पिछानन सुमति जगी ॥ जिन. ॥

जिन अनुभूति सहज ज्ञायकता, सो चिर रुष तुष मैल-पगी।
स्यादवाद-धुनि-निर्मल-जलतैं, विमल भई समभाव लगी ॥ १ ॥ जिन. ॥

संशयमोहभरमता विघटी, प्रगटी आतमसोंज सगी।
'दौल' अपूरब मंगल पायो, शिवसुख लेन होंस उमगी ॥ २ ॥ जिन. ॥

जिनेन्द्र के दिव्य वचन सुनकर मेरा अज्ञान दूर हो गया - भ्रान्ति दूर हो गई। कर्म का स्वभाव और चेतन का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, यह सुमति जिनेन्द्र के दिव्य वचनों को सुनने से आई है।

ज्ञेयों को सहज रूप में जानने का अनुभव, जिसका स्वभाव है, वह अनादि से, दीर्घकाल से क्रोध और मैलरूपी छिलके से ढका है। वह अब स्याद्वादमयी ध्वनिरूपी निर्मल जल से विमल होकर समताभावी होने लगा है।

संशय, मोह, भ्रम के मिटने पर आत्मपरिणति/आत्मा की सामर्थ्य-शक्ति प्रकट हुई है। दौलतराम को अपूर्व, जो पहले कभी न हुआ, ऐसा मंगल हुआ है, अभीष्ट की सिद्धि हुई है कि जिससे मोक्ष-प्राप्ति हेतु प्रबल इच्छा/उत्सुकता बढ़ी है, प्रगट हुई है।

सोंज सोज - सामर्थ्य, शक्ति; होंस - हौस - प्रबल इच्छा।

(३३)

सुन जिन बैन, श्रवन सुख पायौ ॥ टेक ॥

नस्यौ तत्त्व दुर अभिनिवेश तम, स्याद उजास कहायौ।
चिर विसर्‌यौ लह्यौ आतम रैन ॥ १ ॥ श्रवन. ॥

दह्यौ अनादि असंजम दवतैं, लहि व्रत सुधा सिरायौ
धीर धरी मन जीतन मन ॥ २ ॥ श्रवन. ॥

भरो विभाव अभाव सकल अब, सकल रूप चित लायौ।
दास लह्यौ शश्वत अभिनन्दन जैन ॥ ३ ॥ श्रवन. ॥

श्री जिनेन्द्र के कर्णप्रिय वचन सुनकर अत्यन्त सुख प्राप्त हुआ।

तत्त्वज्ञान के ऊपर पापरूपी आवरण के कारण जो अंधकार था, वह स्याद्वादरूपी प्रकाश से नष्ट हो गया है और आत्मा में अनादि से विस्मृत दिन का/ प्रकाश का प्रादुर्भाव हुआ है।

असंयम के कारण अनादि से जो विषय-कषाय की आग दहक रही थी वह व्रत-संयमरूपी जल से शान्त होने लगी है और मन में धैर्य होने से मन पर विजय होने लगी है।

अब समस्त विभावों का अभाव होकर अपने स्वरूप में चित्त लगने लगा है और इस दास को शाश्वत जैन मार्ग की दिशा प्राप्त हुई है।

(३४)

जबतैं आनंदजननि दृष्टि परी माई।
तबतैं संशय विमोह भरमता विलाई॥ जबतैं॥

मैं हूँ चिद्चिह्न, भिन्न परतैं, पर जड़स्वरूप,
दोउनकी एकतासु, जानी दुखदाई॥ १॥ जबतैं.॥

रागादिक बंधहेत, बधन बहु विपति देत,
संवर हित जान तासु, हेत ज्ञानताई॥ २॥ जबतैं.॥

सब सुखमय शिव है तसु, कारन विधिझारन इमि,
तत्त्व की विचारन जिन-वानि सुधिकराई॥ ३॥ जबतैं.॥

विषयचाहज्वालतैं, दह्यो अनंतकालतैं,
सुधांबुस्यात्पदांकगाह तें प्रशांति आई॥ ४॥ जबतैं.॥

या विन जगजालमें, न शरन तीनकालमें,
सम्हाल चित भजो सदीव, 'दौल' यह सुहाई॥ ५॥ जबतैं.॥

जब से ये आनन्ददाता – आनन्द को जन्म देनेवाले विचार आए हैं, सोचने की स्पष्ट दिशा बनी है तब से संशय, विमोह और विभ्रम मिटने लगे हैं।

मैं चैतन्य हूँ, 'पर' से अर्थात् जड़-पुद्गल से भिन्न हूँ। किन्तु अब तक मैं दोनों को एक ही मानता रहा। अब जाना कि दुःख का कारण यही है। राग आदि बंध के कारण हैं, उनके कारण हुए कर्मबंधन अत्यन्त विपत्तियों के देनेवाले हैं। उनको रोकने के लिए संवर का होना ही एकमात्र हित साधन है, इसका भान, इसका बोध ही ज्ञान है।

यह आत्मा आनन्द का भंडार है, आनन्दमय है। तत्वों के विचार से कर्मों की निर्जरा होती है। ऐसा बोध-स्मरण जिनवाणी के पढ़ने, सुनने, मनन करने से होता है।

विषय-भोगों की कामना-लालसा की आग में अनंतकाल से मैं जल रहा हूँ। वस्तु के समस्त पहलुओं को देखने-समझने की स्याद्वाद प्रणाली से वस्तु-स्वरूप समझ में आने लगा और शान्ति का अनुभव हुआ; व्यग्रता-आकुलता मिटने लगी।

इस संसार के व्यूहजाल से छूटने के लिए, इसके सिवा तीनकाल में भी कोई शरण नहीं है। प्रमाद छोड़कर इसका यत्नपूर्वक सदैव मनन-अध्ययन करो। दौलतराम कहते हैं - ऐसा करना ही सुहावना लगता है, भला भाता है।

विधि = कर्म; सुधांबुस्यात्पदांकगाह = स्याद्वादरूपी अमृत के समुद्र में डूबे हुए, अवगाह करनेवाले।

(३५)

और सबै जगद्वन्द मिटावो, लो लावो जिन आगम-ओरी॥ टेक॥

है असार जगद्वन्द बन्धकर, यह कछु गरज न सारत तोरी।
कमला चपला, यौवन सुरधेनु, स्वजन पथिकजन क्यों रति जोरी॥ १॥

विषय कषाय दुखद दोनों ये, इनतैं तोर नेहकी डोरी।
परद्रव्यनको तू अपनावत, क्यों न तजै ऐसी बुधि बोरी॥ २॥

बीत जाय सागरथिति सुरकी, नरपरजायतनी अति थोरी।
अवसर पाय 'दौल' अब चूको, फिर न मिलै मणि सागरबोरी॥ ३॥

हे भव्यप्राणी! जगत के सारे द्वंद्व फंद छोड़कर अब जैन धर्म की ओर अपनी रुचि/लगन लगाओ।

जगत के ये सारे क्रिया-कलाप, द्वंद्व-फंद सब सारहीन हैं, निरर्थक हैं, कर्मबन्ध करनेवाले हैं, इनसे तेरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। लक्ष्मी बिजली के समान चंचल है, यौवन इन्द्रधनुष के समान क्षणिक है। स्वजन तो संसार-पथ में मिले पथिक/राहगीर के समान हैं तू क्यों इनसे मोह करता है!

इंद्रिय-विषय और कषाएँ दोनों ही दु:ख के कारण हैं, इनसे तू अपनापन मतकर, इनसे संबंध तोड़ ले। परद्रव्यों को तू अपना कहता है, ऐसे बावलेपन को, बुद्धूपने को, ऐसी बुद्धि को छोड़ दे।

देवों की सागरों-पर्यन्त की आयु भी बीत जाती है, उसकी तुलना में तो इस नर-पर्याय का समय बहुत थोड़ा है। दौलतराम कहते हैं कि नर-पर्याय का यह थोड़ा सा अवसर तुझे मिला है उसे मत खो। सागर में फेंकी गई मणि खो जाती है, फिर नहीं मिलती (वैसे ही एक बार अवसर खो जाने के बाद फिर नहीं मिलेगा)।

कमला - लक्ष्मी; चपला = बिजली; सुरधनु = इंद्रधनुष।

(३६)

जिनवानी जान सुजान रे॥ टेक॥
लाग रही चिरतैं विभावता, ताको कर अवसान रे॥ जिनवानी.॥

द्रव्य क्षेत्र अरु काल भावकी, कथनीको पहिचान रे।
जाहि पिछाने स्वपरभेद सब, जाने परत निदान रे॥ १॥ जिनवानी.॥

पूरब जिन जानी तिनहीने, मानी संसृतिवान रे।
अब जानै अरु जानैंगे जे, ते पावैं शिवभान रे॥ २॥ जिनवानी.॥

कह 'तुषमाष' सुनी शिवभूती, पायो केवलज्ञान रे।
यौं लखि 'दौलत' सतत करो भवि, चिद्वचनामृतपान रे॥ ३॥ जिनवानी.॥

हे सज्जन चित्त! जिनेन्द्र की वाणी को जानो, समझो। दीर्घकाल से विभावों के प्रति जो रुचि रही है उसका अब अन्त करदो।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार परिणमन को पहचानो, जिसको पहचानने पर स्व और पर का भेद गहराई से समझ में आता है।

पूर्व में भी जिन्होंने इस स्व-पर भेद को जाना, उन्होंने ही संसार को पहचाना और संसार में भ्रमण का/आवागमन का नाश किया। जो इस भेद को अब जान रहे हैं और जो आगे जानेंगे, वे भी आवागमन का नाशकर मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

तुष और माष-दाल और छिलके से भेदज्ञान कर शिवभूति मुनि मोक्षगामी हुए। यह देखकर दौलतराम कहते हैं कि हे भव्य! चैतन्य के अमृतरूप वचन का निरन्तर पान करो, श्रद्धान करो, चिन्तन करो, मनन करो।

लाग = रुचि।

नित पीज्यौ धीधारी, जिनवानि सुधासम जानके ॥ टेक ॥

वीरमुखारविंदतैं प्रगटी, जन्मजरागद टारी।
गौतमादिगुरु-उरघट व्यापी, परम सुरुचि करतारी ॥ १ ॥ नित. ॥

सलिल समान कलिलमलगंजन बुधमनरंजनहारी।
भंजन विभ्रमधूलि प्रभंजन, मिथ्याजलदनिवारी ॥ २ ॥ नित. ॥

कल्यानकतरु उपवनधरिनी, तरनी भवजलतारी।
बंधविदारन पैनी छैनी, मुक्तिनसैनी सारी ॥ ३ ॥ नित. ॥

स्वपरस्वरूप प्रकाशनको यह, भानु कला अविकारी।
मुनिमन-कुमुदिनि-मोदन-शशिभा, शम-सुखसुमनसुबारी ॥ ४ ॥ नित. ॥

जाको सेवत बेवत निजपद, नशत अविद्या सारी।
तीनलोकपति पूजत जाको, जान त्रिजगहितकारी ॥ ५ ॥ नित. ॥

कोटि जीभसौं महिमा जाकी, कहि न सके पविधारी।
'दौल' अल्पमति केम कहै यह, अधम उधारनहारी ॥ ६ ॥ नित. ॥

हे बुद्धिमान, हे बुद्धि के धारक! जिनवाणी को अमृत-समान जान करके तुम उसका नित्य प्रति आस्वादन करो, उस अमृत का पान करो।

वह जिनवाणी भगवान महावीर के श्रीमुख से निकली हुई है/खिरी हुई है। वह जन्म, बुढ़ापा व रोग को टालनेवाली, दूर करनेवाली है। वह जिनवाणी गौतम आदि मुनिजनों के हृदय में धारण की हुई - समाई हुई है; सर्वोत्कृष्ट है, रुचिकर है और मोक्ष-सुख को प्रदान करनेवाली है। उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

यह जिनवाणी जल के समान पापरूपी मैल को धोनेवाली, बुधजनों के, विवेकीजनों के चित्त को हरनेवाली है, विभ्रमरूपी धूल का नाश करनेवाली है,

मिथ्यात्वरूपी बादलों का निवारण करनेवाली है, उसको हटानेवाली है। उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

वह ज्ञान कल्याणक रूपी वृक्ष के उद्यान/बगीचे को धारण करनेवाली है और भव-समुद्र से पार ले जाने के लिए, तारने के लिए नौका के समान है। समस्त बंधनों को विवेक की उत्कृष्ट छैनी से काट देनेवाली है और वह मोक्ष-महल में जाने के लिए सीढ़ी है। उसको सँभालो। उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

वह जिनवाणी सूर्य के विकाररहित प्रकाश की भाँति स्व और पर दोनों के स्वरूप को स्पष्टतः दिखानेवाली है। जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल किरणों से कमलिनी खिलती है उसी प्रकार जिनवाणी मुनियों के मन को आनन्दित करनेवाली है, समतारूपी आनन्द-पुष्पों की सुन्दर वाटिका है, उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

जिसकी स्तुति/सेवा करने से अपने स्वरूप की अनुभूति होती है और अविवेक-अज्ञान का नाश होता है; उसको तीन लोक का हित करनेवाली जान कर तीन लोक के स्वामी भी पूजा करते हैं। उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

दौलतराम कहते हैं कि यह जिनवाणी पतितजनों का उद्धार करनेवाली है। वज्रधारी इन्द्र की करोड़ों जिह्वाएँ भी उस जिनवाणी की महिमा का वर्णन करने में असमर्थ हैं। उसका अल्पमति किस भाँति वर्णन कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते। उस अमृत-समान जिनवाणी का नित्य आस्वादन करो।

गद = रोग, कलिल = पाप, पैनी = तीखी, बेवत = जानना, पविधारी = इन्द्र।

(३८)

धन धन साधर्मीजन मिलनकी घरी,
बरसत भ्रमताप हरन ज्ञानघनझरी ॥ टेक ॥

जाके विन पाये भवविपति अति भरी।
निज परहित अहित की कछू न सुधि परी ॥ १ ॥ घन. ॥

जाके परभाव चित्त सुथिरता करी।
संशय भ्रम मोहकी सु वासना टरी ॥ २ ॥ घन. ॥

मिथ्यागुरुदेवसेव टेव परिहरी।
वीतरागदेव सुगुरुसेव उरधरी ॥ ३ ॥ घन. ॥

चारों अनुयोग सुहितदेश दिठपरी।
शिवमगके लाह की सुचाह विस्तरी ॥ ४ ॥ घन. ॥

सम्यक् तरु धरनि येह करन करिहरी।
भवजलको तरनि समर-भुजग विषजरी ॥ ५ ॥ घन. ॥

पूरवभव या प्रसाद रमनि शिव वरी।
सेवो अब 'दौल' याहि बात यह खरी ॥ ६ ॥ घन. ॥

साधर्मी बन्धुओं के परस्पर मिलने की यह घड़ी, यह अवसर धन्य है जिससे भ्रमरूपी ताप का नाश होकर ज्ञानरूपी वर्षा होती है। ऐसे अवसर की प्राप्ति के बिना इस भव में, इस संसार में अनेक दुःख पाते हैं, स्व और पर के हित और अहित का ज्ञान नहीं होता।

परभाव अर्थात् अन्य के प्रति लगाव की भावना समाप्त होकर चित्त में स्थिरता आती है और संशय, भ्रम, मोह की वासनाएँ रुक जाती हैं। साधर्मी बन्धुओं के सत्संग से कुगुरु व कुदेव की सेवा करने की आदत छूट जाती है और हृदय में वीतरागदेव व गुरु की भक्ति जाग्रत होती है।

इस संगति से अपने कल्याण के लिए चारों अनुयोगों पर दृष्टि जाती है, उनकी ओर रुचि होती है और मोक्ष का लाभ व उस मार्ग पर बढ़ने की चाह बढ़ जाती है।

यह संगति सम्यक्त्वरूपी वृक्ष को धारण करनेवाली है, देह व मन को वश में करनेवाली है, संसार-समुद्र से तारनेवाली नौका है व कामदेवरूपी भयंकर सर्प के विष को निरस्त करनेवाली है अर्थात् साधर्मी बन्धुओं की संगति कामदेवरूपी सर्प के विष को दूर करनेवाली जड़ी-बूटी है।

पूर्व कर्मों के फलस्वरूप यह मोक्षमार्गरूपी लक्ष्मी मिली है, इसकी साधना करो। दौलतराम कहते हैं कि यह ही बात खरी है, सत्य है।

करन = देह, करि = मानस, तरनि = नौका, समर = कामदेव।

(३९)

अब मोहि जानि परी, भवोदधि तारनको है जैन॥ टेक॥

मोह तिमिर तैं सदा कालके, छाय रहे मेरे नैन।
ताके नाशन हेत लियो, मैं अंजन जैन सु ऐन॥ १॥ अब.॥

मिथ्यामती भेषको लेकर, भाषत हैं जो वैन।
सो वे बैन असार लखे मैं, ज्यों पानीके फैन॥ २॥ अब.॥

मिथ्यामती बेल जग फैली, सो दुख फलकी दैन।
सतगुरु भक्तिकुठार हाथ लै, छेद लियो अति चैन॥ ३॥ अब.॥

जा बिन जीव सदैव कालतैं, विधि वश सुखन लहै न।
अशरन-शरन अभय 'दौलत' अब, भजो रैन दिन जैन॥ ४॥ अब.॥

अब मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है, अनुभूति हुई है कि जैन अर्थात् जिनेन्द्र का मार्ग ही संसार-समुद्र से तारनेवाला है, पार उतारनेवाला है।

मोहरूपी अंधकार सदा मेरे नयनों के आगे छाया रहा है, जिसका नाश करने के लिए मैंने अब यह जैन-मार्गरूपी अंजन उचित ही ग्रहण किया है।

झूठे मत-मतांतर को धारणकर जो उपदेश देते हैं, वे सब मुझे पानी के बुलबुले के समान असार-सारहीन दिखाई देते हैं।

झूठे मत-मतांतर की बेल जगत में फैल रही है, वे सब दुखदायी ही हैं। सत्गुरु की भक्तिरूपी कुठार हाथ में लेकर मैंने उनको उखाड़ दिया है, जिससे अत्यधिक चैन मिला है।

इस जिनेन्द्र मत के बिना जीव को कर्मवश कभी सुख की प्राप्ति नहीं हुई। जिसका कोई शरणदाता नहीं है - उसका शरणदाता यह 'जैन' मत है। अब निर्भय होकर रात-दिन जिनेन्द्र का भजन करो।

ऐन = ठीक।

(४०)

ऐसा मोही क्यों न अधोगति जावै, जाको जिनवानी न सुहावै ॥ टेक ॥

वीतरागसे देव छोड़कर, भैरव यक्ष मनावै।
कल्पलता दयालुता तजि, हिंसा इन्द्रायनि वावै ॥ १ ॥ ऐसा. ॥

रुचै न गुरु निर्ग्रन्थ भेष बहु, - परिग्रही गुरु भावै।
परधन परतियको अभिलाषै, अशन अशोधित खावै ॥ २ ॥ ऐसा. ॥

परकी विभव देख है सोगी, परदुख हरख लहावै।
धर्म हेतु इक दाम न खरचै, उपवन लक्ष बहावै ॥ ३ ॥ ऐसा. ॥

ज्यों गृहमें संचै बहु अघ त्यों, वनहू में उपजावै।
अम्बर त्याग कहाय दिगम्बर, बाघम्बर तन छावै ॥ ४ ॥ ऐसा. ॥

आरंभ तज शठ यंत्र मंत्र करि, जनपै पूज्य मनावै।
धाम वाम तज दासी राखै, बाहिर मढ़ी बनावै ॥ ५ ॥ ऐसा. ॥

नाम धराय जती तपसी मन, विषयनिमें ललचावै।
'दौलत' सो अनन्त भव भटकै, ओरनको भटकावै ॥ ६ ॥ ऐसा. ॥

मोह-जाल में उलझे हुए जीव को जिनवाणी सुहावनी नहीं लगती, ऐसी दशा में वह खोटी गति में क्यों नहीं/कैसे नहीं जावेगा? अर्थात् जिसे जिनवाणी रुचिकर नहीं लगती ऐसे मोही जीव की दुर्गति होती है।

जो वीतराग की भक्ति न कर भैरव, यक्ष अर्थात् क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि रागी देवों को प्रसन्न करने में लगा रहता है, वह करुणा की कल्पबेल को छोड़कर विषय और हिंसा रूपी कड़ुए इंद्रायण फल को बोता है, वह हिंसा आदि पापों में रत होता है जिसका फल दुखदायी होता है।

जो निष्परिग्रही, निराडंबर साधुओं का सत्संग न कर उन साधुओं की संगत करता है जो स्वयं परिग्रही है और दूसरों के धन, स्त्री आदि पर ललचाता है,

उन्हें प्राप्त करने की इच्छा रखता है और अशुद्ध व अशोधित खान-पान करता है। ऐसा मोही जीव दुर्गति में जाने से कैसे रुकेगा?

जो दूसरे के वैभव को देखकर दु:खी होता है और दूसरे को दु:खी कर या दु:खी देखकर प्रसन्न होता है। धर्म के निमित्त एक भी कौड़ी-पैसा खर्च नहीं करता और मौज-मस्ती के लिए लाखों रुपये खर्च करता है। लाखों प्रकार कर्मरूपी वन का सृजन करता है अर्थात् कर्मजाल बुनता है। ऐसा मोही जीव दुर्गति कैसे नहीं पायेगा?

जैसे घर में रहकर विभिन्न क्रिया-कलापों द्वारा पाप-कर्मों का उपार्जन करता है वैसे ही घर का त्यागकर वन में जाकर भी पापों का ही उपार्जन करता है और वन में जाकर वस्त्र छोड़कर दिगम्बर (निष्परिग्रही साधु) कहलाना चाहता है पर मृगच्छाला व शेर की खाल लपेट लेता है, मोहजाल में लिपटा ऐसा व्यक्ति क्यों नहीं दुर्गति में जाएगा?

जो स्वयं परिश्रम न कर अर्थात् काम-काज छोड़कर, दुष्ट यंत्र-मंत्र की साधनाकर लोक में अपने आपको पुजाता है, घर-स्त्री आदि को छोड़कर घर से बाहर आश्रम बनाकर दासियों सहित उसमें रहता है, मोहजाल में लिपटा ऐसा व्यक्ति क्यों नहीं दुर्गति में जाएगा?

अपने आपको मुनि, तपस्वी कहता है पर जिसका मन विषयों में ललचाता है, ऐसे साधु-अनन्तकाल तक इस लोक में/भव-भवान्तर में स्वयं भटकते हैं और अन्य जनों को भी भटकाते हैं, कुमार्ग पर अग्रसर करते हैं। ऐसा मोही जीव दुर्गति कैसे नहीं पायेगा?

ऐसा योगी क्यों न अभयपद पावै, सो फेर न भवमें आवै॥ टेक॥

संशय विभ्रम मोह-विवर्जित, स्वपरस्वरूप लखावै।
लख परमातम चेतनको पुनि, कर्मकलंक मिटावै॥ १॥ ऐसा.॥

भवतनयोगविरक्त होय तन, नग्न सुभेष बनावै।
मोहविकार निवार निजातम-अनुभव में चित लावै॥ २॥ ऐसा.॥

त्रस-थावर-वध त्याग सदा, परमाददशा छिटकावै।
रागादिकवश झूठ न भाखै, तृणहू न अदत्त गहावै॥ ३॥ ऐसा.॥

बाहिर नारि त्यागि अंतर, चिदब्रह्म सुलीन रहावै।
परमाकिंचन धर्मसार सो, द्विविध प्रसंग बहावै॥ ४॥ ऐसा.॥

पंच समिति त्रय गुप्ति पाल, व्यवहार-चरनमग धावै।
निश्चय सकलकषायरहित है, शुद्धातम थिर थावै॥ ५॥ ऐसा.॥

कुंकुम पंक दास रिपु तृण मणि, व्याल माल सम भावै।
आरत रौद्र कुध्यान विडारे, धर्मशुकलको ध्यावै॥ ६॥ ऐसा.॥

जाके सुखसमाज की महिमा, कहत इन्द्र अकुलावै।
'दौल' तासपद होय दास सो, अविचलऋद्धि लहावै॥ ७॥ ऐसा.॥

ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पायेगा अर्थात् भयरहित पद-मोक्ष पायेगा जिससे संसार में फिर उसका आवागमन नहीं होगा।

जो संशय, विभ्रम और विमोह का नाशकर, अपना और अन्य के, स्व और पर के भेद-स्वरूप को स्पष्ट जाने व देखे। जो अपने परम आत्मरूप को पहचान-कर आत्मा पर लगे कर्मरूपी कलंक को मिटा दे, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

संसारी अवस्था में जो देह मिली है, उसके विषयों से विरक्त होकर जो नग्न दिगम्बर मुनि हो जावे और मोहनीय कर्म के विकारों से रहित अपनी आत्मा का/निजात्मा का चिंतन करे; उसकी अनुभूति/प्रतीति करे, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

जो प्रमाद को छोड़कर स्थावर (एकेन्द्रिय) और त्रस (दो से पंचेन्द्रिय) जीवों की हिंसा से सदा बचे। राग-द्वेष के कारण कभी झूठ न बोले और बिना दिया हुआ किसी का एक तिनका भी ग्रहण न करे, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

जो बाह्य में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे अर्थात् नारी-प्रसंग का त्याग करके अपने अन्तकरण से अपने चैतन्यगुणों में निमग्न होवे और पूर्णतया धर्म का साररूप अपरिग्रह अर्थात् बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार परिग्रह-रहितता का निर्वाह करे - पालन करे, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

जो पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करते हुए आचरण का व्यवहाररूप पालन करे और फिर निश्चय से सभी कषायों को छोड़कर अपने शुद्ध आत्मध्यान में स्थिर हो, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

केशर या कीचड़, शत्रु और नौकर, मणि हो या तिनका, साँप हो या माला, सब में समताभाव रखे। आर्त और रौद्र नाम के दोनों अपध्यान छोड़कर, धर्म और शुक्ल ध्यान को अपनावे, ऐसा योगी क्यों नहीं अभयपद पावेगा?

उस अलौकिक सुख का अर्थात् जिसकी बाह्य व आन्तरिक महिमा का वर्णन करने में इन्द्र को भी आकुलता होती है अर्थात् इन्द्र भी उनके गुणों को पूर्णरूपेण कह नहीं सकता - उनका वर्णन नहीं कर सकता। दौलतराम कहते हैं कि जो उनके चरणों की भक्ति करता है, सेवा करता है, वह स्थिररूप से ऋषियों को प्राप्त करता है, धारण करता है।

अभयपद = सब प्रकार के भयों से रहित पद अर्थात् मोक्ष।

(४२)

कबधौं मिलै मोहि श्रीगुरु मुनिवर, करि हैं भवोदधि पारा हो॥ टेक॥

भोगउदास जोग जिन लीनों, छांड परिग्रहभारा हो।
इन्द्रिय दमन वमन मद कीनो, विषय कषाय निवारा हो॥ १॥ कबधौं.॥

कंचन काच बराबर जिनके, निंदक बंदक सारा हो।
दुर्धर तप तपि सम्यक निज घर, मनवचतनकर धारा हो॥ २॥ कबधौं.॥

ग्रीषम गिरि हिम सरितातीरै, पावस तरुतल ठारा हो।
करुणाभीन चीन त्रसथावर, ईर्यापंथ समारा हो॥ ३॥ कबधौं.॥

मार मार व्रत धार शील दृढ, मोह महामल टारा हो।
मास छमास उपास वास वन, प्रासुक करत अहारा हो॥ ४॥ कबधौं.॥

आरतरौद्रलेश नहिं जिनके, धर्म शुकल चित धारा हो।
ध्यानारूढ़ गूढ़ निज आतम, शुधउपयोग विचारा हो॥ ५॥ कबधौं.॥

आप तरहिं औरनको तारहिं, भवजलसिंधु अपारा हो।
'दौलत' ऐसे जैन-जतिनको, नितप्रति धोक हमारा हो॥ ६॥ कबधौं.॥

वे मुनिवर मुझे कब मिलें जो मुझे इस संसारसमुद्र से पार लगा दे। जिन्होंने भोगों से विरक्त होकर संन्यास ले लिया है और सारे परिग्रह के भार को छोड़ दिया है। इंद्रियों को वश में कर अहंकार का त्याग कर दिया है, जिन्होंने संयम का पालनकर, मान कषाय का नाशकर, इंद्रिय विषयों व कषायों को दूर कर दिया है, नष्ट कर दिया है, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे?

कंचन और काँच, निंदक और प्रशंसक, सब ही जिनके लिए एक-समान हैं। कठोर साधना-तपकर मन-वचन-कायसहित जो शुद्ध रूप में अपनी आत्मा में लीन हैं, साधनारत हैं, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे?

गर्मी में पहाड़ की चोटी पर, सर्दी में नदी के किनारे और वर्षा में पेड़ के नीचे बैठ कर जो ध्यान करते हैं; जो करुणा से, दया से भीगे हुए हैं त्रस और स्थावर जीवों को देखकर-सँभलकर चलते हैं और ईर्या समिति का पालन करते हैं, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे?

जो दृढ़ता से शील व्रत को पालते हैं; काम को जिन्होंने मार दिया है, जीत लिया है और मोहरूपी मैल को दूर कर दिया है, जो वन में रहकर एक मास के, छह मास के उपवास करते हैं और जब भी आहार ग्रहण करते हैं तब केवल प्रासुक अर्थात् शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हैं - ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे?

जिनके जरा-सा भी आर्त और रौद्र ध्यान नहीं है, जो धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं और अपनी आत्मा के गहरे ध्यान में डूबे रहकर, अपना उपयोग शुद्ध रखते हैं, अपने शुद्ध स्वरूप का विचार करते हैं, ऐसे मुनिवर मुझे कब मिलेंगे?

जो आप स्वयं इस अपार अगम अथाह भवसागर से तैरकर परिश्रमकर, तपस्या कर स्वयं पार होते हैं व औरों को भी इसी प्रकार पार कराते हैं। दौलतराम कहते हैं कि ऐसे जैन साधुओं को, गुरुओं को हमारा नित्यप्रति - सदैव नमन है।

मार = कामदेव

(४३)

गुरु कहत सीख इमि बार बार, विषसम विषयनको टार टार॥ टेक॥
इन सेवत अनादि दुख पायो, जनम मरन बहु धार धार॥ १॥ गुरु.॥
कर्माश्रित बाधा-जुत फांसी, बन्ध बढावन द्वंदकार॥ २॥ गुरु.॥
ये न इंन्द्रिके तृप्तिहेतु जिमि, तिस न बुझावत क्षारवार॥ ३॥ गुरु.॥
इनमें सुख कलपना अबुधके, बुधजन मानत दुख प्रचार॥ ४॥ गुरु.॥
इन तजि ज्ञानपियूष चख्यौ तिन, 'दौल' लही भववार पार॥ ५॥ गुरु.॥

श्री गुरु बार-बार यह सीख देते हैं, उपदेश देते हैं कि विष के समान इन इंद्रिय-भोगों को तू दूर हटा दे, छोड़ दे।

इन विषय-भोगों को भोग-भोग कर, इन्हें मान्यता देकर अनेक बार तू जन्म-मरण धारण करता रहा है।

इन कर्मों का आसरा/आधार लेकर दु:खसहित बंधन को, उलझनभरी जकड़न को कसता रहा, नवीन कर्म-बंध से पुष्ट करता रहा।

ये विषय-भोग इन्द्रियों को कभी तृप्त कर ही नहीं पाते, इंद्रिय-विषयों से कभी संतुष्टि नहीं होती, जिस प्रकार खारे जल से प्यास नहीं मिटती।

इनमें सुख की कल्पना करना बुद्धिहीनता है, अविवेक है। बुद्धिमान तो इनमें दु:ख ही मानता है।

इनको छोड़कर जिसने ज्ञानामृत का पान किया, दौलतराम कहते हैं कि वह ही भवसागर के पार हो गया।

(४४)

जिन रागद्वेषत्यागा वह सतगुरु हमारा ॥ टेक ॥
तज राजरिद्ध तृणवत निज काज सँभारा ॥ जिन राग. ॥

रहता है वह वनखंड में, धरि ध्यान कुठारा।
जिन मोह महा तरुको, जड़मूल उखारा ॥ १ ॥ जिन राग. ॥

सर्वांग तज परिग्रह, दिगअंबर धारा।
अनंतज्ञानगुनसमुद्र, चारित्र भँडारा ॥ २ ॥ जिन राग. ॥

शुक्लाग्निको प्रजालके, वसु कानन जारा।
ऐसे गुरुको 'दौल' है, नमोऽस्तु हमारा ॥ ३ ॥ जिन राग. ॥

जिन्होंने राग और द्वेष को छोड़ दिया, त्याग दिया वे ही हमारे पूज्य गुरु हैं, साधु हैं। जिन्होंने अपने राज-पाट व ऋद्धि को तिनके के समान छोड़ दिया और अपने आत्महित के लिए स्वरूप-चिंतन में लीन हो गये, जुट गये, वे ही हमारे गुरु हैं।

वे साधु जो जंगल में अपना निवास करते हैं और गहन व कठोर ध्यान में डूबते हैं। वे मोहरूपी वृक्ष को जड़-मूल से उखाड़ने को तत्पर हैं, वे ही हमारे गुरु हैं।

सब प्रकार का परिग्रह छोड़कर, दिगम्बर भेष जिनने धारण किया और जो अनंत ज्ञान-गुण के समुद्र हैं और अगाध चारित्र के भण्डार हैं, वे हमारे गुरु हैं।

वे शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि को जलाकर, आठ कर्मों के इस वन को जला रहे हैं। दौलतराम कहते हैं ऐसे साधुजन को हमारा नमन है।

(४५)

धनि मुनि जिनकी लगी लौ शिवओरनै॥
सम्यगदर्शनज्ञानचरननिधि, धरत हरत भ्रमचोरनै॥ धनि.॥
यथाजातमुद्राजुत सुन्दर, सदन विजन गिरिकोरनै।
तृन-कंचन अरि-स्वजन गिनत सम, निंदन और निहोरनै॥ १॥ धनि.॥
भवसुख चाह सकल तौंज बल सजि, करत द्विविध तप घोरनै।
परमविरागभाव पवितैं नित, चूरत करम कठोरनै॥ २॥ धनि.॥
छीन शरीर न हीन चिदानन, मोहत मोहझकोरनै।
जग-तप-हर भवि कुमुद निशाकर, मोदन 'दौल' चकोरनै॥ ३॥ धनि.॥

वे मुनि धन्य हैं जिनको मोक्ष की लगन लगी है। वे रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र-रूपी निधि को धारण करते हैं जो संशयरूपी/भ्रमरूपी चोर को हरती है, उसका नाश कर देती है।

जो सुंदर, नग्न दिगम्बर मुद्रा को धारणकर निर्जन पहाड़ों की कन्दराओं में, कोनों में रहते हैं। जो तिनके और स्वर्ण में, शत्रु और आत्मीयजनों में, निंदक और प्रशंसक में समान भाव रखते हैं, वे मुनि धन्य हैं।

सब सांसारिक सुख की कामना छोड़कर, अपनी पूर्ण क्षमता के साथ आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार से घोर, कठिन तप की साधना करते हैं। निरासक्त, वैराग्य-भाव रूपी वज्र को धारण कर वे कठोर कर्मों को भी चूर कर देते हैं, नष्ट कर देते हैं, वे मुनि धन्य हैं।

यद्यपि उनका शरीर क्षीण हो गया है अर्थात् काया कृश हो गई है, फिर भी आत्मिक दृष्टि से किसी प्रकार की निर्बलता नहीं है और वे मोह की प्रचण्ड वायु झकोरे को भी मोह लेते हैं; रोक लेते हैं, उसका प्रतिघात सह लेते हैं। ऐसे जगत का ताप हरनेवाले, कुमुद को विकसित करनेवाले, चन्द्रमा के समान उन मुनि को देखकर चकोर की भाँति दौलतराम का चित्त भी प्रसन्न हो जाता है, मुदित हो जाता है।

यथाजात मुद्रा - नग्न दिगम्बर होना, जैसी स्थिति/मुद्रा जन्म के समय होती है।
निहोरने = प्रशंसक, पवि - वज्र।

(४६)

धनि मुनि जिन यह, भाव पिछाना॥
तनव्यय वांछित प्रापति मानी, पुण्य उदय दुख जाना॥ धनि.॥

एकविहारी सकल ईश्वरता, त्याग महोत्सव माना।
सब सुखको परिहार सार सुख, जानि रागरुष भाना॥ १॥ धनि.॥

चित्स्वभावको चिंत्य प्रान निज, विमल ज्ञानदृगलाना।
'दौल' कौन सुख जान लह्यो तिन, करो शांतिरसपाना॥ २॥ धनि.॥

धन्य हैं वे मुनि जिनने यह भाव स्वीकार किया, माना-पहिचानना। जिनने देह की वांछित समाप्ति, जिसके पश्चात् पुन: देह धारण न करना पड़े, उसे अपना लक्ष्य माना, प्राप्ति मानी और पुण्य-उदय अर्थात् कर्म-शृंखला को दु:ख स्वरूप जाना।

जिनने प्रभुता को त्यागकर, अकेले विचरने के अवसर को महोत्सव स्वरूप माना अर्थात् मुनि-दीक्षा धारण की और राग-द्वेष को समझकर, उनसे युक्त सब सांसारिक सुखों को छोड़ने में ही सुख का सार देखा, वे मुनि धन्य हैं।

जिनने चैतन्य स्वभाव का चिंतन कर अपने जीवन को सम्यक्दर्शन-ज्ञान से युक्त किया। दौलतराम कहते हैं कि शांति रस की प्राप्ति हेतु ऐसा कौनसा सुख है जो उनको प्राप्त नहीं हुआ हो।

(४७)

धनि मुनि निज आतमहित कीना।
भव प्रसार तन अशुचि विषय विष, जान महाव्रत लीना॥ धनि.॥

एकविहारी परीगह छारी, परिसह सहत अरीना।
पूरव तन तपसाधन मान न, लाज गनी परवीना॥ १॥ धनि.॥

शून्य सदन गिर गहन गुफामें, पदमासन आसीना।
परभावनतैं भिन्न आपपद, ध्यावत मोहविहीना॥ २॥ धनि.॥

स्वपरभेद जिनकी बुधि निजमें, पागी वाहि लगीना।
'दौल' तास पद कारिजरजसे, किस अघ करे न छीना॥ ३॥ धनि.॥

धन्य हैं वे मुनि जिन्होंने अपनी आत्मा का हित किया। यह संसार असार है। यह देह मैली है, स्वच्छ नहीं है, जिसमें इंद्रियों के विषय, उनकी चाह-तृष्णा विष के समान है; ऐसा विचार कर महाव्रत को धारण किया।

जो समस्त परिग्रह को छोड़कर अकेले ही विचरते हैं, शत्रु-सरीखे परीषहों को सहन करते हैं। पहले जो देह धारण की उसे अब तक तप का साधन नहीं समझा, चतुर-समर्थवान के लिए यह लज्जाजनक था; यह विचार कर पश्चात्ताप कर, प्रायश्चित्त किया, ऐसा माननेवाले साधु धन्य हैं।

जो सूने मकान में, पहाड़ों की गहरी गुफाओं में पद्मासन से विराजकर (बैठकर) मोह से रहित होकर यह ध्यान करते हैं कि सभी परभावों से भिन्न अपना आत्मा है, निजात्मा है।

जिनकी धारणा में, ज्ञान में स्व-पर का भेद स्पष्ट हो गया है और बुद्धि उसी में डूब रही है, उसी में रत है। दौलतराम कहते हैं कौन से पाप हैं जो उनके चरण-कमल की रज से दूर नहीं किए जा सकते?

अरीना = शत्रुसमान, गनी = धनवान, वाहि = खोया हुआ।

(४८)

देखो जी आदीश्वर स्वामी कैसा ध्यान लगाया है!
कर ऊपरि कर सुभग विराजै, आसन थिर फहराया है॥टेक॥

जगत-विभूति भूतिसम तजकर, निजानन्द पद ध्याया है।
सुरभित श्वासा, आशा वासा, नासादृष्टि सुहाया है॥१॥

कंचन वरन चलै मन रंच न, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास पास अहि मोर मृगी हरि, जातिविरोध नसाया है॥२॥

शुध उपयोग हुताशन में जिन, वसुविधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि शिर सोहै, मानों धुआँ उड़ाया है॥३॥

जीवन-मरन अलाभ-लाभ जिन, तृन-मनिको सम भाया है।
सुर नर नाग नमहिं पद जाकै, 'दौल' तास जस गाया है॥४॥

अरे देखो - भगवान आदि नाथ ने कैसा ध्यान लगाया है! वे पद्मासन मुद्रा में, हाथ पर हाथ रखकर, स्थिर आसन से विराजमान हैं।

जगत के समस्त वैभव को जिनने धूलि - राख के समान समझकर त्याग दिया है और अपने ही आनन्द में, स्वरूपानन्द में मगन हैं, लीन हैं। दिशाएँ ही जिनके वस्त्र हैं अर्थात् परम दिगम्बर वेष धारण किए हुए हैं, वे शांत व आनन्ददायक, सुगंधित व अतिमंद श्वासोश्वाससहित नाक के अग्रभाग पर दृष्टि जमाए हुए सुशोभित हैं।

स्वर्ण की-सी तप्त जिनकी सुंदर देह है; मन अचंचल है, सुमेरु के समान स्थिर है; जिनके समीप सर्प और मोर, मृग और मृगराज (सिंह) अपना जातिगत विरोध भूलकर स्वच्छंद विचरण करते हैं।

वे शुद्ध आत्मध्यानरूपी अग्निकुंड में आठों कर्मरूप सामग्री की आहुति दे रहे हैं। उनके मस्तक पर बढ़ी काली केश-राशि ऐसे सुशोभित हो रही है मानो यज्ञकुंड से धुआँ ऊपर उठकर लहरा रहा हो।

जीवन-मरण, लाभ और अलाभ, तृण और मणि सभी उनके लिए समान हैं। देव, मनुष्य, नाग आदि जिनके चरणों में नमन करते हैं। दौलतराम भी उनका स्तवन-चिंतन करते हुए यशगान करते हैं।

भूति = भभूत-राख; आशा = दिशा, समिध - हवन की सामग्री।

(४९)

जय श्री ऋषभ जिनंदा! नाश तौ करो स्वामी मेरे दुखदंदा॥ टेक॥

मातु मरुदेवी प्यारे, पिता नाभिके दुलारे,
वंश तो इख्वाक, जैसे नभवीच चंदा॥ १॥ जय श्री.॥

कनक वरन तन, मोहत भविक जन,
रवि शशि कोटि लाजैं, लाजै मकरन्दा॥ २॥ जय श्री.॥

दोष तौ अठारा नासे, गुन छियालीस भासे,
अष्ट-कर्म काट स्वामी, भये निरफंदा॥ ३॥ जय श्री.॥

चार ज्ञानधारी गनी, पार नाहिं पावै मुनी,
'दौलत' नमत सुख चाहत अमंदा॥ ४॥ जय श्री.॥

श्री ऋषभ जिनेन्द्र की जय हो। हे स्वामी! मेरे दु:खों का नाश हो। आप माता मरुदेवी के प्यारे, पिता नाभिराय के दुलारे और इक्ष्वाकु नभ के मध्य उदित चन्द्रमा के समान हो।

स्वर्ण का-सा आपका गात (शरीर, देह) भक्तजनों के मन को मोह लेता है। करोड़ों सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश, पुष्पों की सुगंधित केसर व रस सभी उस रूप के समक्ष लज्जित होते हैं; फीके लगते हैं।

अठारह दोषों को आपने नष्ट कर दिया है। अरहंत के छियालीस गुण प्रकट हो गए हैं। आप आठों कर्मों का नाश करके सारे फंदों से, उनकी उलझन, जकड़न व बंध से परे हो गए हैं, मुक्त हो गए हैं।

चारों ज्ञान के धारी गणधर व मुनिजन आपका पार नहीं पा सकते। दौलतराम कहते हैं कि मुझे उस सुख की प्राप्ति हो जो कभी मंद नहीं होता अर्थात् अक्षयसुख की प्राप्ति हो।

(५०)

भज ऋषिपति ऋषभेश, ताहि नित नमत अमर असुरा।
मनमथमथ दरसावनशिवपथ, वृषरथचक्रधुरा॥ भज.॥

जा प्रभुगर्भछमासपूर्व सुर, करी सुवर्णधरा।
जन्मत सुरगिरधरसुरगणयुत, हरि पय-न्हवन करा॥ १॥ भज.॥

नटत नृत्यकी विलय देख प्रभु, लहि विराग सु थिरा।
तब हि देवऋषि आय नाय शिर, जिनपदपुष्प धरा॥ २॥ भज.॥

केवलसमय जास वचरविने, जगभ्रमतिमिरहरा।
सुदृगबोधचारित्रपोतलहि, भवि भवसिंधुतरा॥ ३॥ भज.॥

योगसंहार निवार शेषविधि, निवसे वसुम धरा।
'दौलत' जे जाको जस गावे, ते हैं अज अमरा॥ ४॥ भज.॥

हे प्राणी! जिन्हें देव व असुर सभी नमन करते हैं, तू उन मुनियों के नाथ ऋषभ जिनेश्वर का नित्य भजन-स्मरण कर। काम-वासना को जीतकर जिन्होंने मोक्ष का मार्ग दिखाया है, जो धर्मरूपी रथ को चलानेवाले पहियों की धुरि हैं, आधार हैं।

उनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से इन्द्र ने पृथ्वी को सुवर्णमयी कर दिया अर्थात् रत्नों की वृष्टि होने लगी और जन्म होते ही सुमेरू पर्वत पर ले जाकर इन्द्र ने क्षीरोदधि के जल से उनका न्हवन किया। हे प्राणी! उन ऋषभदेव को भज।

जिनको नीलांजना के नृत्य करते हुए जीवन-समाप्ति अर्थात् मरण को देखकर वैराग्य हो गया और वे उसमें स्थिर हो गए। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर, शीश नवाकर स्तुति-वन्दन किया। हे प्राणी! उन ऋषभदेव को भज।

जिन्होंने केवलज्ञान होने पर दिव्यध्वनिरूपी सूर्य की किरणों से जगत को उपदेश देकर भ्रमरूपी अंधकार का विनाश किया। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-

रूपी जहाज पर चढ़कर इस संसारसमुद्र को पार किया। हे प्राणी! उन ऋषभदेव को भज।

समस्त मन-वचन-काय के योग को छोड़कर, परिहारकर कर्मों का नाश किया और आठवीं पृथ्वी अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया। दौलतराम कहते हैं कि जो उनका यशगान करते हैं वे अजर और अमर हो जाते हैं।

देवऋषि = लौकान्तिक देव, वच = वचन; शेषविधि = अघातिया कर्म, वसुम-धरा = आठवीं पृथ्वी, मोक्ष।

(२१)

मेरी सुध लीजै रिषभस्वाम! मोहि कीजै शिवपथगाम॥ टेक॥

मैं अनादि भवभ्रमत दुखी अब, तुम दुख मेटत कृपाधाम।
मोहि मोह घेरा कर चेरा, पेरा चहुँगति विदित ठाम॥ १॥ मेरी.॥

विषयन मन ललचाय हरी मुझ, शुद्धज्ञान-संपति ललाम।
अथवा यह जड़ को न दोष मम, दुखसुखता, परनतिसुकाम॥ २॥ मेरी.॥

भाग जगे अब चरन जपे तुम, वच सुनके गहे सुगुनग्राम।
परमविराग ज्ञानमय मुनिजन, जपत तुमारी सुगुनदाम॥ ३॥ मेरी.॥

निर्विकार संपति कृति तेरी, छविपर वारों कोटिकाम।
भव्यनिके भव हारन कारन, सहज यथा तमहरन घाम॥ ४॥ मेरी.॥

तुम गुनमहिमा कथनकरनको, गिनत गनी निजबुद्धि खाम।
'दोलतनी' अज्ञान परनती, हे जगत्राता कर विराम॥ ५॥ मेरी.॥

हे ऋषभदेव, हे स्वामी। मेरी सुधि लीजिए, मुझे भी मोक्ष-पथ पर गमन करने योग्य बनाइए। मोक्षपथ का अनुगामी कीजिए।

मैं अनादि काल से भवभ्रमण करते-करते अब बहुत दु:खी हो गया हूँ। मेरा दु:ख मेटनेवाले आप ही दयालु हैं। मुझे मोह ने घेरकर अपना दास बना लिया है और चारों गतियों के परिचित स्थानों में भटकाया है।

विषयों में मेरे मन को ललचाकर, मेरे शुद्ध ज्ञान व संयम की सुंदर निधि को हर लिया है, छीन लिया है। इसमें पुद्गल जड़ का कोई दोष नहीं है; मेरा ही दोष है, मेरा दु:खी व सुखी होना मेरी ही परिणति है।

अब मेरा भाग्योदय हुआ है कि मुझे आपके चरणों में शरण मिली है, आपके चरणों की शरण में मैं आया हूँ और आपके वचन सुनकर अपने गुणों का भान

हुआ है, गुण ग्रहण किए हैं। वीतरागी, ज्ञानी व मुनिगण आदि सब आपके गुणों की माला जपते हैं।

ज्ञान का विकाररहित होना ही आपकी सुन्दर कृति/रचना है। आपकी सुन्दर छवि पर करोड़ों कामदेवों की भी बलिहारी है। भव्यजनों की भवपीड़ा को हरने के लिए आप श्रेष्ठ निमित्त हैं और अज्ञानअंधकार को हरनेवाले प्रकृत सूर्य हैं। आपके गुणों की महिमा का ज्ञान करना व उस रूप आचरण करने के लिए उन गुणों की गिनती करने में गणधर भी सक्षम नहीं है। दौलतराम कहते हैं कि हे जग के दु:खों से छुड़ानेवाले, मेरे अज्ञान की ऐसी परिणति को अब आप विराम दो, समाप्त करो।

दाम - माला, गनी - गणधर; खाम - कमी।

निरख सखि ऋषिनको ईश यह ऋषभ जिन,
परखिके स्वपर परसोंज छारी।
नैन नासाग्र धरि मैन विनसायकर,
मौनजुत स्वास दिशि सुरभिकारी॥ निरख.॥

धरासम क्षांतियुत नरामरखचरनुत,
वियुतरागादिमद दुरितहारी।
जास क्रमपास भ्रमनाश पंचास्य मृग,
वासकरि प्रीतिकी रीति धारी॥ १॥ निरख.॥

ध्यानदवमाहि विधिदारु प्रजराहिं सिर,
केशशुभ जिमि धुआँ दिशि विथारी।
फँसे जगपंक जनरंक तिन काढने,
किधौं जगनाह यह बांह सारी॥ २॥ निरख.॥

तप्त हाटकवरन वसन विन आभरन,
खरे थिर ज्यौं शिखर मेरुकारी।
'दौलको' दैन शिवधौल जगमौल जे,
तिन्हैं कर जोर वन्दन हमारी॥ ३॥ निरख.॥

हे सखी! मुनियों के नाथ - ऋषभ जिनेश्वर को देखो, उनके दर्शन करो जिनने स्व-पर का भेद समझकर पर परिणतियों को त्याग दिया है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिरकर कामदेव का, कामनाओं का नाशकर मौन धारण किया हैं। जिनके श्वास से दिशाएँ सुगंधित हो रही हैं।

पृथ्वी के समान क्षमाशील, जिनके चरणों में मनुष्य, देव और विद्याधर नत हो रहे हैं, वे राग, द्वेष, मद आदि से रहित पापों का हरण करनेवाले हैं।

जिनके चरणों के समीप जाने से भ्रम का नाश होता है; सिंह और मृग भी जाति-विरोध छोड़कर प्रेम से रहने लगे हैं। मुनियों के स्वामी उन ऋषभ जिनेश्वर के दर्शन करो।

जिन्होंने ध्यानाग्नि में कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है। उनके केश (सिर के बाल) ऐसे सुशोभित हो रहे हैं कि मानो ध्यानाग्नि का धुआँ उठकर चारों दिशाओं में फैल रहा हो। वह धुआँ ऐसा लग रहा है मानो इस जगतरूपी कीचड़ में फँसे नि:सहाय जन को बाहर निकालने के लिए जगत के नाथ ने अपनी बाहें पसारी हों।

तपे हुए स्वर्ण के समान, वस्त्र व आभूषणरहित नग्न दिगम्बर वेष में जो मेरु के समान स्थिर होकर खड़े हैं। वे जगत के मुकुट दौलतराम को निर्मल मोक्ष के दाता हैं, मोक्ष देनेवाले हैं। उनको हाथ जोड़कर हम वन्दना करते हैं।

सोंज = विचार, परिणति; क्षांति = क्षमा; मैन = काम; खचर = विद्याधर; वियुत = रहित; दुरित = पाप; क्रम - चरण; पंचास्य = सिंह; विधिदारु = कर्मरूपी ईंधन; विथारी - विस्तारी; हाटक = स्वर्ण; धौल - धवल, स्वच्छ = सफेद।

(५३)

चलि सखि देखन नाभिरायघर, नाचत हरि नटवा।
अद्‌भुत ताल मान शुभलययुत, चवत राग षटवा॥ चलि.॥

मनिमय नूपुरादिभूषन-दुति, युत सुरंग पटवा।
हरिकर नखन नखनपै सुरतिय, पगफेरत कटवा॥ १॥ चलि.॥

किन्नर करधर बीन बजावत, लावत लय झटवा।
'दौलत' ताहि लखैं चख तृपते, सूझत शिववटवा॥ २॥ चलि.॥

अरी सखि! नाभिराजा के घर चल, जहाँ इन्द्र भी ऋषभ-जन्मोत्सव के कारण नट की भाँति नृत्य कर रहा है, प्रसन्न हो रहा है। वहाँ अद्‌भुत ताल का मान रखकर (अद्‌भुत ताल पर) उपयुक्त शुभ लय में छहों राग गायी जा रही हैं।

वहाँ इन्द्र सुन्दर मणियुक्त, चमकदार वस्त्र, नूपुर आदि धारण किए हुए हैं जिसके हाथ के प्रत्येक नख के पौरवे पर देवियाँ थिरक-थिरक कर, कमर लचका कर नृत्य कर रही हैं।

किन्नर हाथों में बीन लेकर बजा रहे हैं और उसकी लय में संगत कर रहे हैं। दौलतराम कहते हैं कि उसे देखकर नेत्र तृप्त हो जाते हैं और मोक्षमार्ग दिखाई देने लगता है।

नटवा = नट; चवत = गाते हैं; षटवा - छहों राग; पटवा = वस्त्र; कटवा = कमर, चख = नेत्र; वटवा = मार्ग।

(५४)

जगदानंदन जिन अभिनंदन, पदअरविंद नमूं मैं तेरे॥टेक॥

अरुणवरन अघताप हरन वर, वितरन कुशल सु शरन बडेरे।
पद्मासदन गदन मद-भंजन, रंजन दुर्जनगनअलिकेरे॥१॥

ये गुन सुन मैं शरनै आयो, मोहि मोह दुख देत घनेरे।
ता मदभानन स्वपर पिछानन, तुम विन आन न कारन हेरे॥२॥

तुम पदशरण गही जिनतैं ते, जामन-जरा-मरन-निरवेरे।
तुमतैं विमुख भये शठ तिनको, चहुँ गति विपतमहाविधि पेरे॥३॥

तुमरे अमित सुगुन ज्ञानादिक, सतत मुदित गनराज उगेरे।
लहत न मित मैं पतित कहों किम, किन शशकन गिरिराज उखेरे॥४॥

तुम बिन राग दोष दर्पनज्यों, निज निज भाव फलैं तिनकेरे।
तुम हो सहज जगत उपकारी, शिवपथ-सारथवाह भलेरे॥५॥

तुम दयाल बेहाल बहुत हम, काल-कराल व्याल-चिर-घेरे।
भाल नाय गुणमाल जपों तुम, हे दयाल, दुखटाल सबेरे॥६॥

तुम बहु पतित सुपावन कीने, क्यों न हरो भव संकट मेरे।
भ्रम-उपाधि हर शमसमाधिकर, 'दौल' भये तुमरे अब चेरे॥७॥

जगत को आनंदित करनेवाले हे अभिनंदन जिनेश्वर! मैं आपके चरण कमल में नमन करता हूँ।

आपका अरुण वर्ण (रंग) पापों को हरनेवाला है। जो आपकी शरण ग्रहण करता है उसे कुशल-क्षेम प्राप्त होती है। आप कामदेव का मद चूर करनेवाले हैं। आप मोक्ष लक्ष्मी के मन्दिर हैं। ये आपके चरण कमल मुनिजनों के मनरूपी भँवरों को मोहित करनेवाले हैं/आनन्दकारी हैं।

मैं आपका यह विरद/गुण/विशेषता सुनकर आपके पास आया हूँ। मोह अत्यन्त दुखकारी है। उस मोह-मद का भान कराने व स्व-पर की पहचान कराने को आपके सिवा अन्य कोई निमित्त ढूँढ़ने से भी नहीं मिलता।

जिनने आपके चरणों में शरण ली, उनको जन्म, जरा और मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है; और जो आपसे विमुख हुए उन दुष्टजनों को चारों गतियों में कर्म अत्यंत विपत्ति में पेलते हैं/घुमाते हैं।

आपके अपरिमित ज्ञान आदि का गुण-स्तवन, गुणगान गणधर देव सदैव प्रसन्नता से करते हैं। उन गुणों को परिमित रूप में भी, थोड़ासा भी, मैं - पापी, अल्पज्ञ किस प्रकार प्रकट करूँ! क्या कभी पर्वतराज को उखाड़ने में खरगोश समर्थ हो सकते हैं!

आपके स्मरण के बिना राग-द्वेष अपने-अपने भावों के अनुसार दर्पण की भाँति शुभ-अशुभ फल देते हैं। [illegible] ही उपहार करनेवाले हो! मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ रथ के आप ही सहज सारथी हो, चलानेवाले हो।

हे दयालु! हम बहुत बुरे हाल में हैं, काल-मृत्यु हिंसक पशु की भाँति हमेशा हमें घेरे रहती है। मैं मस्तक झुकाकर आपके गुणों का स्तवन करता हूँ, मेरे सब दुःख दूर हो जायें, समस्त दुःख टल जायें।

आपने बहुत से पापियों को पवित्र किया है, फिर मेरे संकट क्यों नहीं दूर करते? दौलतराम कहते हैं कि मैं जो भ्रमरूप उपाधि ओढ़े हुए हूँ, आप उसको हरनेवाले हैं, विवेक व समता प्रदान करनेवाले हैं। मैं अब आपका सेवक हूँ, दास हूँ।

पद्मा - लक्ष्मी; उगेरे - गाए, शशकन - खरगोश; सबेरे - सब - समस्त।

पद्मसद्म पदापद पद्मा, मुक्तिसद्म दरशावन है।
कलि-मल-गंजन मन अलि रंजन, मुनिजन शरन सुपावन है॥

जाकी जन्मपुरी कुशंबिका, सुर नर-नाग रमावन है।
जास जन्मदिनपूरब षटनव, मास रतन बरसावन है॥ १॥

जा तपथान पपोसागिरि सो, आतम-ज्ञान थिर थावन है।
केवलजोत उदोत भई सो, मिथ्यातिमिर-नशावन है॥ २॥

जाको शासन पंचाननसो, कुमति मतंग नशावन है।
राग बिना सेवक जन तारक, है तासु कछतुल भाव न है॥ ३॥

जाकी महिमाके वरननसों, सुरगुरु बुद्धि थकावन है।
'दौल' अल्पमतिको कहबो जिमि, शशकगिरिद धकावन है॥ ४॥

हे पद्मप्रभ जिनदेव! आप मोक्षरूपी लक्ष्मी के स्वामी हैं और आपके चरण कमल मुक्ति की दिशा - स्थान को बतानेवाले हैं। आप पापरूपी मैल का नाश करनेवाले हैं, आप मनरूपी भ्रमर को प्रसन्नता देनेवाले कमल हैं, मुनिजनों के लिए पवित्र शरणदाता हैं।

सुर, नर और नाग सभी के मन को भानेवाली कोशांबी नगरी जिनकी जन्मस्थली है। जिनके जन्म से पंद्रह मास पूर्व से वहाँ रत्नों की वर्षा होने लगी थी।

पपोसा पर्वत जिनका तपस्थान है जो आत्मज्ञान में एकाग्र होने का, स्थिर होने का स्थान है। वहाँ ही आपने मिथ्यात्वरूपी अंधकार का नाश करनेवाले कैवल्य को प्राप्त किया।

आपका उपदेश सिंह की भाँति मिथ्यात्वरूपी हाथी का नाश करनेवाला है। आप बिना किसी राग के उन सेवकजनों को तारते हो जिनके कुछ भी राग-द्वेष-ममत्व नहीं रहता अर्थात् जो राग-द्वेषरहित होकर समतावान होते हैं आप उन्हें तारते हो।

जिनकी महिमा का वर्णन करने के लिए वृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं। दौलतराम कहते हैं कि जैसे खरगोश सुमेरु पर्वत को धकेलने का प्रयास करे, उसी भाँति मैं अल्पमति उस महिमा का वर्णन किस प्रकार कर सकता हूँ अर्थात् समर्थ नहीं हूँ।

पद्मसद्म = मुक्ति स्थान, समवसरण; पद्मामुक्ति = मोक्ष-लक्ष्मी; सद्म - घर, शासन - उपदेश; पंचानन = सिंह, मतंग = हाथी; रुष-तुष = द्वेषराग।

(५६)

चन्द्रानन जिन चन्द्रनाथके, चरन चतुर-चित ध्यावतु हैं।
कर्म-चक्र-चकचूर चिदातम, चिनमूरत पद पावतु हैं॥टेक॥

हाहा—हूहू—नारद—तुंबर, जासु आगन जस गावतु हैं।
पद्मा सची शिवा श्यामादिक, करधर बीन बजावतु हैं॥१॥

विन इच्छा उपदेश माहिं हित, अहित जगत दरसावतु हैं।
जा पदतट सुर नर मुनि घट चिर, विकट विमोह नशावतु हैं॥२॥

जाकी चन्द्र बरन तनदुतिसों, कोटिक सूर छिपावतु हैं।
आतमजोत उदोतमाहिं सब, ज्ञेय अनंत दिपावतु हैं॥३॥

नित्य-उदय अकलंक अछीन सु, मुनि-उडु-चित्त रमावतु हैं।
जाकी ज्ञानचन्द्रिका लोका-लोक माहिं न समावतु हैं॥४॥

साम्यसिंधु-वर्द्धन जगनंदन, को शिर हरिगन नावतु हैं।
संशय विभ्रम मोह 'दौल' के, हर जो जगभरमावतु हैं॥५॥

चन्द्रमा के समान मुख है जिनका ऐसे श्री चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र के चरणों का विवेकीजन ध्यान करते हैं, जिससे वे कर्मचक्र का नाशकर शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा का पद - मोक्ष को पाते हैं।

गंधर्व जाति के (हाहा, हूहू, नारद और तुंबर) देव आपका यशगान करते हैं। लक्ष्मी, इन्द्राणी, शिवा, श्यामा आदि देवियाँ हाथों में बीन लेकर बजा रही हैं।

जिनका उपदेश बिना किसी इच्छा के, नियोगवश-जगत को हित-अहित का भेद बतानेवाला है, जिनके चरणरूपी किनारे का आश्रय सुर-नर और मुनिगण के हृदय से विकट-कठिन विमोह का स्थायीरूप से नाश करनेवाला है।

जिनके शुभ्र वर्ण शरीर की सुन्दर कान्ति करोड़ों सूर्यों के प्रकाश को भी छुपानेवाली है। जिनके आत्मा की ज्योति के प्रकाश में अनत ज्ञेय (जाननेयोग्य पदार्थ) दीपायमान हो रहे हैं; प्रकाशित हो रहे हैं।

वे चन्द्रप्रभ सदैव उदित हैं, कभी अस्त नहीं होते; कलंकरहित हैं, अक्षय हैं। मुनिरूपी तारागण का चित्त जिनमें सदा लगा रहता है, उनके ज्ञान की चाँदनी लोक व अलोक में भी सीमित नहीं रह पा रही है अर्थात् सर्वत्र व्याप रही है।

वे चन्द्रप्रभ समतारूपी समुद्र को बढ़ानेवाले, जगत को आनंदित करनेवाले हैं। उनको देवगण भी शीश नमाते हैं। दौलतराम विनती करते हैं कि जगत में भ्रमण करानेवाले, भटकानेवाले संशय, विमोह व विभ्रम का हरण करो, नाश करो।

अछीन = अक्षय

हाहा, हूहू, नारद और तुंबर ये गंधर्व जाति के देवों के भेद हैं।

(५७)

जय जिन वासुपूज्य शिव-रमनी-रमन मदन-दनु-दारन हैं।
बालकाल संयम सम्हाल रिपु, मोहव्याल बलमारन हैं॥

जाके पंचकल्यान भये चंपापुर में सुखकारन हैं।
वासववृंद अमंद मोद धर, किये भवोदधि तारन हैं॥ १॥

जाकै वैन सुधा त्रिभुवन जन, को भवरोग निवारन हैं।
जा गुनचिंतन अमलअनल मृत, जनम-जरा-वन-जारन हैं॥ २॥

जाकी अरुन शांतछवि-रविभा, दिवस प्रबोध प्रसारन हैं।
जाके चरन शरन सुरतरु वांछित शिवफल विस्तारन हैं॥ ३॥

जाको शासन सेवत मुनि जे, चारज्ञानके धारन हैं।
इन्द्र-फणींद्र-मुकुटमणि-दुतिजल, जापद कलिल पखारन हैं॥ ४॥

जाकी सेव अछेवरमाकर, चहुंगतिविपति उधारन हैं।
जा अनुभवघनसार सु आकुल, — तापकलाप निवारन हैं॥५॥

द्वादशमों जिनचन्द्र जास वर, जस उजासको पार न हैं।
भक्तिभारतैं नमें 'दौल' के, चिर-विभाव-दुख टारन हैं॥ ६॥

हे वासुपूज्य जिनदेव, आपकी जय हो। आप मोक्षरूपी लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा में - केलि में रत हैं, कामरूपी राक्षस का संहार करनेवाले हैं। बाल्यकाल से ही संयम को धारणकर मोहरूपी सर्प का बलपूर्वक नाश करनेवाले हैं।

चंपापुरी में हुए आपके पाँचों कल्याणक अत्यंत सुखकारी हैं। इन्द्र आदि अति आनंद से भरकर भव-समुद्र के पार हो गए हैं।

जिनके वचनामृत संसारीजनों के भ्रम का नाश करनेवाले हैं, जिनके गुण-चिंतवन की शुद्ध ध्यानाग्नि से जन्म-मृत्यु व बुढ़ापारूपी जंगल भस्म हो जाता है।

जिनकी शान्त छवि सूर्य की प्रातःकालीन लाल किरणों के समान ज्ञानरूपी दिन का प्रसार करती हैं। जिनके चरणों की शरण स्वर्ग व मोक्ष की दाता है।

चार ज्ञान के धारी मुनिजन–गणधर आपके शासन की सेवा/मान्यता करते हैं। मुकुटधारी इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र आदि जिसके चरणों की ज्योतिरूपी जल से अपने पाप-मल को धोते हैं।

जिनकी भक्ति से अक्षयपद की प्राप्ति होती है, जो चारों गति के दुःखों से उद्धार करनेवाली है। जिनके सच्चे अनुभव के फलस्वरूप आकुलता का लोप हो जाता है।

दौलतराम अपने दीर्घकाल से चले आ रहे विभावों के दुःख को टालने के लिए भक्ति के भारवश उन बारहवें जिनेश्वर को, जिनके यश का कोई पार नहीं है, नमन करते हैं।

मदन दनु = कामदेवरूपी राक्षस; दारन = मारनेवाला, मोह काल – मोहरूपी सर्प; सुरतरु = कल्पवृक्ष; अछेव - अक्षय।

वारी हो बधाई या शुभ साजै।
विश्वसेन ऐरादेवी-गृह, जिनभवमंगल छाजै॥ वारी.॥

सब अमरेश, अशेष विभवजुत, नगर नागपुर आये।
नाग-दत्त सुर-इन्द्रवचनतैं, ऐरावत सज धाये।
लखजोजन शतवदन वदनवसु, रद प्रतिसर ठहरावे।
सर-सर सौ-पन वीस नलिनप्रति, पदम पचीस विराजै॥ १॥ वारी.॥

पदमपदमप्रति अष्टोत्तरशत, ठने सुदल मनहारी।
ते सब कोटि सताइसपै मुद, जुत नाचत सुरनारी।
नवरसगान ठान काननको उपजावत सुख भारी।
वंक लै लावत लंक लचावत, दुति लखि दामनि लाजै॥ २॥ वारी.॥

गोप गोपतिय जाय मायढिग करी तास थुति सारी।
सुखनिद्रा जननी को कर नमि अंक लियो जगतारी।
लै वसु मंगलद्रव्य दिशसुरी चली अग्र शुभकारी।
हरखि हरी, चख सहस करी तब, जिन वर निरखनकाजै॥ ३॥ वारी.॥

ता गजेन्द्रपै प्रथम इन्द्रने, श्रीजिनेन्द्र पधराये।
द्वितीय छत्र दिय तृतिय, तुरिय-हरि, मुद धरि चमर ढुराये।
शेषशक्र जयशब्द करत नभ, लंघ सुराचल छाये।
पांडुशिला जिन थाप नची सचि दुन्दभिकोटिक बाजै॥ ४॥ वारी.॥

पुनि सुरेशने श्रीजिनेशको, जन्मन्हवन शुभ ठानो।
हेमकुम्भ सुरहाथहि हाथन, क्षीरोदधिजल आनो।
वदनउदरअवगाह एक चौ, वसु योजन परमानो।
सहसआठकर करि हरि जिनसिर, ढारत जयधुनि गाजै॥ ५॥ वारी.॥

फिर हरिनारि सिंगार स्वामितन, जजे सुरा जस गाये।
पूरवली विधिकर पयान मुद, ठान पिता घर लाये।
मणिमय आँगनमें कनकासन, पै श्रीजिन पधराये।
तांडव नृत्य कियो सुरनायक, शोभा सकल समाजै॥६॥ वारी.॥

फिर हरि जगगुरुपितर तोष शान्तेश घोष जिननामा।
पुत्र-जन्म उत्साह नगर में, कियौ भूप अभिरामा।
साध सकल निजनिजनियोग सुर, असुर गये निजधामा।
त्रिषद्धारी जिनशासनचारकी, 'दौलत' करत सेवा जै॥७॥ वारी.॥

इस शुभ सजावट/साज-सज्जा पर बलिहारी है, बधाई हो। विश्वसेन व ऐरादेवी के निवास पर (भगवान शान्तिनाथ के जन्म पर) मंगलकारी उत्सव हो रहा है।

सभी इन्द्र अपने वैभवसहित हस्तिनापुर आए हैं, और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर भी ऐरावत बनाकर सज-धजकर वहाँ आया है; एक लाख योजन में ऐरावत के एक सौ आठ सूँड के प्रत्येक दाँत पर एक-एक सरोवर में सौ-सौ पत्तों के बीच कमल खिले हुए हैं और कमल की एक-एक पत्ती पर एक सौ आठ सुन्दर देवांगनाओं के दल बने हुए हैं, जो सब मिल कर सत्ताईस कोटि हैं, वे सब मुदित होकर मनोहारी नृत्य कर रही हैं। नव प्रकार के थाटों की राग-रागनियों में गाकर उस उपवन में वे अत्यंत सुख उपजा रही हैं। वे भाँति-भाँति के हाव-भावसहित, कभी वक्र होकर, कभी कमर लचकाकर बिजली की-सी द्रुतगति से नृत्य कर रही हैं। इन्द्राणी गुप्तरूप से प्रसूतिगृह में अन्दर जाकर बालक की स्तुति करती है, माता को माया से सुखनिद्रा में सुलाकर उन्हें नमनकर गोद में बालक को उठाती है और दिक् कन्याएँ, देवियाँ आगे होकर अष्ट मंगल द्रव्य लेकर चलती हैं। तीर्थंकर बालक के सुन्दर व मनोहारी रूप को देखने हेतु इन्द्र एक हजार नेत्र बनाकर निहारता है।

फिर उस ऐरावत हाथी पर प्रथम स्वर्ग के इन्द्र ने श्री जिनेन्द्र को विराजमान किया, दूसरे ऐशान इन्द्र ने छत्र किया, सानत्कुमार व माहेन्द्र ने तुरिय आदि सहित

चमर ढुराए और शेष इन्द्र जय-जयकार करते हुए नभ-मार्ग से चले और सुमेरु पर पहुँचे, पांडु शिला पर श्री जिनेन्द्र को बिराजमान कर इन्द्राणी ने नृत्य किया और दुंदुभि आदि अनेक बाजों का नाद हुआ।

तब इन्द्र ने श्री जिनेन्द्र को नहलाने का शुभ विचार किया और सुवर्ण-कलशों में देवों से हाथोंहाथ क्षीरोदधि से जल मँगवाया। कलशों का मुँह एक योजन, उदर चार योजन तथा गहराई आठ योजन प्रमाण थी। ऐसे एक हजार आठ कलशों को श्री जिनेन्द्र के मस्तक पर उडेल कर समर्पित करते हुए अभिषेक (न्हवन) किए और चारों ओर जय-जय ध्वनि गूँज उठी।

तत्पश्चात् इंदाणी ने जिनेन्द्र के गात (शरीर) का दिव्य शृंगार किया, देवांगनाएँ मंगल गीत गाने लगीं। फिर पहले की भाँति ही क्रम से वापस प्रयाण किया और उन्हें पिता के घर ले आए जहाँ मणि-रत्नों से पूरे हुए आँगन में स्वर्ण के सिंहासन पर श्री जिनेन्द्र को विराजमान किया और इन्द्र ने सारे समाज के बीच अत्यंत शोभायमान तांडव/नृत्य किया।

इन्द्र ने भगवान के पिता को संतुष्ट करते हुए बालक के शान्तिनाथ नाम की घोषणा की/शांतिनाथ नामकरण किया। राजा ने भी पुत्र-जन्म का उत्सव मनोहारी ढंग से मनाया। इस प्रकार अपने-अपने नियोगों का निर्वाहकर - निभाकर पूर्ण करते हुए सुरगण व अन्य सभी जन अपने-अपने स्थानों को लौट गए। ऐसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती व कामदेव, तीन पदवियों के धारक भगवान शान्तिनाथ के सुन्दर चरणों की शरण में दौलतराम सदैव जय-जयकार करते हैं।

विश्वसेन व ऐरादेवी - भगवान शान्तिनाथ के पिता व माता; नाग - हस्ति, हाथी; नागपुर = हस्तिनापुर; जिनभव मंगल - जिनेन्द्र का जन्मोत्सव; नाग - कुबेर; रद = दाँत; गोप = गुप्त रूप से; गोप-तिय = इन्द्राणी; वंक = टेढ़ा, वक्र; लंक = कमर; ढिग - समीप; द्वितीय व तृतीय इन्द्र = सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र; शेषशक्र = शेष सब इन्द्र; सुराचल - सुमेरु; वदन - कलश, पूरबली = पूर्व की/पहले की भाँति; त्रिपद = तीर्थंकर, चक्रवर्ती व कामदेव - ये तीन पदधारी; तांडव = पुरुषों द्वारा किया जानेवाला उन्माद नृत्य।

(५९)

कुंथुनके प्रतिपाल कुंथ जग, - तार सारगुनधारक हैं।
वर्जितग्रन्थ कुपंथवितर्जित, अर्जितपंथ अमारक हैं॥ टेक॥

जाकी समवसरन बहिरंग,-रमा गनधार अपार कहैं।
सम्यग्दर्शन-बोध-चरण-अध्यात्म-रमा-भरभारक हैं॥ १॥

दशधा-धर्म पोतकर भव्यन,-को भवसागर तारक हैं।
वरसमाधि-वन-घन विभावरज, पुंजनिकुंजनिवारक हैं॥ २॥

जासु ज्ञाननभ में अलोकजुत-लोक यथा इक तारक हैं।
जासु ध्यान हस्तावलम्ब दुख-कूपविरूप-उधारक हैं॥ ३॥

तज छखंडकमला प्रभु अमला, तपकमला आगारक हैं।
द्वादशसभा-सरोजसूर भ्रम,-तरुअंकूर उपारक हैं॥ ४॥

गुणअनंत कहि लहत अंत को? सुरगुरुसे बुध हारक हैं।
नमें 'दौल' हे कृपाकंद, भवद्वंद टार बहुबार कहैं॥ ५॥

भगवान कुंथुनाथ! कुंथु जैसे छोटे-छोटे सभी जीवों के रक्षक अर्थात् समस्त जीव समूह की रक्षा करनेवाले हैं। आप जगत से तारनेवाले और गुणों के सार को धारण करनेवाले हो। कुपंथ का ज्ञान देनेवाले ग्रन्थों को त्यागने और अहिंसा के मार्ग का प्रतिपाद न करनेवाले हो।

जिनके समवसरणरूपी बाह्य वैभव-लक्ष्मी का वर्णन अपार है, जिनका वर्णन गणधरदेव करते हैं। आप अंतरंग से सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और अध्यात्म के वैभव से भरपूर हैं।

दशधर्म रूपी जहाज के द्वारा आप भव्यजनों को संसार-समुद्र से तारनेवाले हैं। समाधिरूपी गहनवन को ग्रहणकर, विभाव से भरे जंगल से बाहर निकालनेवाले हैं अर्थात् विभाव से छुड़ानेवाले हैं।

जिनके ज्ञानरूपी आकाश में लोक और अलोक युगपत (एकसाथ) स्पष्ट दिखाई देते हैं। जिनके ध्यानरूपी हाथ का सहारा, आलंबन दुःखों के कुएँ से बचानेवाले हैं।

छह खंड की राजलक्ष्मी को छोड़कर आप मलरहितता के लिए, कर्ममल को नाश करने के लिए, तपरूपी लक्ष्मी के साक्षात् आवास हैं, स्थान हैं अर्थात् तपरूपी लक्ष्मी के धारक हैं। भ्रमरूपी वृक्ष के उगते हुए अंकुरों को उपाड़नेवाले, नष्ट करनेवाले व समवसरन की बारह सभारूपी कमल को प्रफुल्लित करनेवाले, खिलानेवाले सूर्य हैं।

बृहस्पति समान गुरु भी आपके अनन्त गुणों का संपूर्ण वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् वे भी गुणानुवाद कहते-कहते थककर असमर्थ रहे हैं। दौलतराम बारंबार यह विनती करते हैं कि हे कृपासिंधु। मुझे इस संसार के दुःखों से मुक्त करो, इनसे दूर करो।

अहो नमि जिनप नित नमत शत सुरप,
कंदर्पगज दर्पनाशन प्रबल पनलपन॥
नाथ तुम बानि पयपान जे करत भवि,
नसैं तिनकी जरामरन-जामनतपन॥ अहो. ॥

अहो शिवभीन तुम चरनचिंतौन जे,
करत तिन जरत भावी दुखद भवविपन॥
हे भुवनपाल तुम विशदगुनमाल उर,
धरैं ते लहैं टुक कालमें श्रेयपन॥ १॥ अहो. ॥

अहो गुनतूप तुमरूप चख सहस करि,
लखत सन्तोष प्रापति भयौ नाकप न॥
अज, अकल, तज सकल दुखद परिग्रह कुग्रह,
दुसहपरिसह सही धार व्रत सार पन॥ २॥ अहो. ॥

पाय केवल सकल लोक करवत लख्यौ,
अख्यौ वृष द्विधा सुनि नसत भ्रमतमझपन
नीच कीचक कियौ मीचतैं रहित जिम,
'दौल' को पास ले नास भववास पन॥ ३॥ अहो. ॥

भगवान नेमिनाथ को नमन करो जिनका सौ इन्द्र वंदन करते हैं। जो कामदेवरूपी हाथी के मद को नाश करने के लिए पंचानन सिंह के समान प्रबल हैं। आपकी वाणीरूपी अमृत का पान करने से भव्यजनों के जन्म-मरणरूपी रोगों की तपन, पीड़ा नष्ट हो जाती है।

ओ मुक्तिपुरी अर्थात् मोक्षधाम के वासी! आपके चरणों का चिंतवन करने से, ध्यान करने से भविष्य के भवरूपी दुःखकारी वन जल जाते हैं अर्थात् भव

का/संसार-भ्रमण का अंत हो जाता है, नाश हो जाता है। हे पृथ्वीपालक! आपकी सघन गुणों की माला को जो हृदय में धारण करते हैं वे भी अल्पकाल में ही आपके समान श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं।

हे गुणों के स्तूप! आपका रूप निरखने के लिए इन्द्र ने विक्रिया से सहस्र नेत्र बनाए, फिर भी उसे तृप्ति नहीं हुई, उसका मन नहीं भरा। जिनके भवों का नाश हो चुका अर्थात् जो अब पुनः जन्म नहीं लेंगे, देह रहित होंगे, उनने व्रत धारणकर, घरबार आदि सब परिग्रह छोड़ दिए व असहनीय सब परीषहों को सहन किया।

जिन्हें केवलज्ञान होने पर, सारे लोक को सन्मुख रखे हुए (पदार्थ) के समान देखा, निश्चय व व्यवहार का उपदेश दिया, जिससे भ्रमरूपी अंधकार का नाश हुआ। कीचक जैसे नीच को मृत्यु से रहितकर, उसकी भव-शृंखला का नाश कर दिया। दौलतराम कहते हैं कि हमें भी अब आप अपने समीप ले लो अर्थात् हमारी भी संसार में रहने की स्थिति समाप्त हो।

शत सुरप = सौ इन्द्र; कंदर्प - कामदेव; दर्प - मान, पन-लपन = पाँच जीभवाला; पंचानन = सिंह; तूप = स्तूप, खम्भा; नाकप - इन्द्र; अज - जिसका जन्म न हो, जन्मरहित; अकल - देहरहित; कुगह - खोटा घर; अख्यो = उपदेश दिया; भ्रम तम झपन = भ्रमरूपी अंधकार की झपझपाहट।

(६१)

नेमिप्रभू की श्यामवरन छवि, नैनन छाय रही।
मणिमय तीनपीठपर अंबुज, तापर अधर ठही॥ नेमि.॥

मार मार तप धार जार विधि, केवलऋद्धि लही।
चारतीस अतिशय दुतिमंडित, नवदुगदोष नही॥ १॥ नेमि.॥

जाहि सुरासुर नमत सतत, मस्तकतैं परस मही।
सुरगुरुवर अम्बुजप्रफुलावन, अद्भुत भान सही॥ २॥ नेमि.॥

घर अनुराग विलोकत जाको, दुरित नसै सब ही।
'दौलत' महिमा अतुल जासकी, कापै जात कही॥ ३॥ नेमि.॥

श्री नेमिनाथ की श्याम रंग की छवि, मुद्रा मेरी आँखों में समा गई है, आँखों के आगे मनभावन दिखती है जो समवसरन में मणिमय सिंहासन पर शोभित कमल के ऊपर अधर - बिना किसी आधार का सहारा लिए पृथ्वी से ऊपर आकाश में बिराजमान हैं।

(जिन्होंने) तपरूपी अग्नि को धारणकर, उसके ताप से कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया है और कैवल्यरूपी ऋद्धि को प्राप्त किया है। जिसके कारण अत्यंत प्रकाशवान चौंतीस अतिशय प्रकट हुए हैं और अठारह दोषों का नाश हो गया है।

जिनके चरणों की रज मस्तक पर लगाकर सुर व असुर (अर्थात् जो देव नहीं हैं, वे भी) सभी सदैव नमन करते हैं। वे देव व मुनिजन रूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए अद्भुत सूर्य के समान हैं।

उनके भक्तिसहित दर्शन करने से सब पापों का नाश होता है। दौलतराम कहते हैं कि उनकी अतुल महिमा का वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

नवदुग = अठारह, मार = कामदेव।

(६२)

भाखूं हित तेरा, सुनि हो मन मेरा ॥ टेक ॥

नरनरकादिक चारौं गति में, भटक्यो तू अधिकानी।
परपरणति में प्रीति करी, निज परनति नाहिं पिछानी।
सहै दुख क्यों न घनेरा ॥ १ ॥ भाखूं ॥

कुगुरु कुदेव कुपंथ पंकफंसि, तैं बहु खेद लहायो।
शिवसुख दैन जैन जगदीपक, सो तैं कबहुं न पायो,
मिट्यो न अज्ञान अंधेरा ॥ २ ॥ भाखूं ॥

दर्शनज्ञानचरण तेरी निधि, सौ विधिठगन ठगी है।
पाँचों इंद्रिन के विषयन में, तेरी बुद्धि लगी है,
भया इनका तू चेरा ॥ ३ ॥ भाखूं ॥

तू जगजाल विषै बहु उरझ्यो, अब कर ले सुरझेरा।
'दौलत' नेमिचरन पंकज का, हो तू भ्रमर सबेरा,
नशै ज्यों दुख भवकेरा ॥ ४ ॥ भाखूं ॥

हे मन! तेरे ही हित की बात कही जाती है, उपदेश दिया जाता है, तू सुन!

हे मन, सुन! तू मनुष्य, नरक, तिर्यंच और देव - इन चारों गतियों में बहुत अधिक भटक चुका। अन्य द्रव्य के परिणमन में तो रुचि लेता रहा और स्वयं की परिणति की तू पहचान भी नहीं कर पाया। तो फिर अत्यन्त दु:ख कैसे/क्यों नहीं सहन करेगा? अर्थात् फिर तुझे अत्यन्त घने दु:ख सहन करने ही पड़ेंगे।

हे मन, सुन! कुगुरु, कुदेव व कुधर्म के कीचड़ में फँसकर तू बहुत दु:खी हुआ और मोक्ष सुख को देनेवाले, उसकी राह बतानेवाले दीपक - जिनधर्म को तूने कभी भी ग्रहण नहीं किया, इसीलिए तेरा यह अज्ञान का अंधेरा नहीं मिट सका।

हे मन, सुन! कर्मरूपी ठगों ने तेरी अपनी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की रत्नत्रय संपत्ति को हर लिया है, ठग लिया है। पाँचों इंद्रियों के विषयों में तेरी बुद्धि लगी है, रुचि लगी है और तू इन विषयों का दास हो रहा है।

हे मन, सुन! तू इस संसार के व्यूह-जाल में बहुत उलझ चुका, अब तो तू अपने को सुलझा ले। दौलतराम कहते हैं कि तू शीघ्र ही नेमिनाथ भगवान के चरण-कमलों पर मँडरानेवाला ज्ञानरूपी भँवरा बन जिससे तेरे भव-भव के होनेवाले दुख मिट जाएँ।

सबेर - सवेरा - शीघ्र।

(६३)

लाल कैसे जावोगे, असरनसरन कृपाल॥ टेक.॥

इक दिन सरस वसंतसमथ में, केशव की सब नारी।
प्रभुप्रदच्छनारूप खड़ी हैं, कहत नेमिपर वारी॥ १॥ लाल.॥

कुंकुम लै मुख मलत रुकमनी, रंग छिरकत गांधारी।
सतभामा प्रभुओर जोर कर, छोरत है पिचकारी॥ २॥ लाल.॥

व्याह कबूल करो तौ छूटौ, इतनी अरज हमारी।
ओंकार कहकर प्रभु मुलके, छांड दिये जगतारी॥ ३॥ लाल.॥

पुलकितवदन मदनपित्-भामिनि, निज निज मदन सिधारी।
'दौलत' जादववंशव्योम शशि, जयौ जगत हितकारी॥ ४॥ लाल.॥

हे अशरण को शरण देनेवाले कृपालु लाल, अब कैसे (दूर) जाओगे! एक दिन बसंत ऋतु के सुहाने समय में कृष्ण की सब स्त्रियाँ (नेमिनाथ के) चारों ओर खड़ी हो गईं और नेमिनाथ पर निछावर होने की बात कहने लगीं।

रुक्मिणी प्रसन्न होकर कुंकुम लगाने लगी और गांधारी रंग छिड़कने लगी। सत्यभामा दोनों हाथ जोड़कर प्रभु नेमिनाथ की ओर पिचकारी छोड़ने लगी।

वे सब कहने लगीं कि अब आप विवाह की स्वीकृति देने पर ही यहाँ से जा सकोगे - यह ही हमारी ओर से निवेदन है। प्रभु ने उंकार शब्द का उच्चारण किया और मुस्कराए, तब प्रभु को जाने दिया गया।

तब प्रद्युम्न कामदेव की माता रुक्मिणी आदि अपने-अपने निवास पर चली गईं। दौलतराम कहते हैं कि यादव वंशरूपी गगन के चंद्रमा प्रभु नेमिनाथ की जय हो जो जगत का हित करनेवाले हैं।

(६४)

पारस जिन चरन निरख, हरख यों लहायो,
चितवन चन्दा चकोर, ज्यों प्रमोद पायो ॥ पारस ॥
ज्यों सुन घनघोर शोर, मोरहर्षको न ओर,
रंक निधिसमाज राज, पाय मुदित थायो ॥ १ ॥ पारस. ॥
ज्यों जन चिरछुधित होय, भोजन लखि सुखित होय,
भेषज गदहरन पाय, सरुज सुहरखायो ॥ २ ॥ पारस. ॥
वासर भयो धन्य आज, दुरित दूर परे भाज,
शांतदशा देख महा, मोहतम पलायो ॥ ३ ॥ पारस. ॥
जाके गुन जानन जिम, भानन भवकानन इम,
जान 'दौल' शरन आय, शिवसुख ललचायो ॥ ४ ॥ पारस. ॥

भगवान पार्श्वनाथ के चरणों के दर्शन पाकर ऐसा हर्ष होता है जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर पक्षी अत्यन्त प्रमुदित होता है।

जैसे बादलों की घटा को देखकर और उसकी गड़गड़ाहट को सुनकर मोर पक्षी की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहता, जैसे - धन, समाज व राज को पाकर निर्धन-रंक को प्रसन्नता होती है।

जैसे अत्यन्त भूख से विकल मनुष्य, भोजन को देखकर सुख का अनुभव करता है और जैसे - सरुज (रोगी) रोग को दूर करनेवाली औषधि को पाकर प्रफुल्लित होता है।

आज का दिन धन्य है, सभी पाप दूर भागने लगे हैं, प्रभु की शांत छवि को देखकर मोहरूपी महान अंधकार विघटने लगा है।

इस भव-वन में आपके गुणों को जानकर उनकी निज में प्रतीति-अनुभूति होने लगती है, मोक्ष-सुख के लिए लालायित होकर व यह सब जानकर दौलतराम आपकी शरण में आया है।

ओर = अन्त; सरुज = रोगी; भेषज = दवा।

(६५)

वामा घर बजत बधाई, चलि देखि री माई॥ टेक॥

सुगुनरास जग आस भरन तिन, जने पार्श्व जिनराई।
श्री ह्रीं धृति कीरति बुद्धि लछमी, हर्ष अंग न माई॥ १॥ चलि.॥

वरन वरन मनि चूर सची सब, पूरत चौक सुहाई।
हाहा हूहू नारद तुम्बर, गावत श्रुति सुखदाई॥ २॥ चलि.॥

तांडव नृत्य नटत हरिनट तिन, नख नख सुरीं नचाई।
किन्नर कर धर बीन बजावत, दृगमनहर छवि छाई॥ ३॥ चलि.॥

'दौल' तासु प्रभुकी महिमा सुर, गुरु पै कहिय न जाई।
जाके जन्म समय नरकमें, नारकि साता पाई॥ ४॥ चलि.॥

मैया! चलो देखो, वामादेवी के घर पर बधाइयाँ बज रही हैं।

जगत की आशा पूरी करने हेतु, सर्वगुणों के भोगसहित भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ है। श्री, ह्रीं, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी सब ही दिक्कुमारियाँ हर्ष से फूली नहीं समा रहीं।

इन्द्राणी भाँति-भाँति के रंगों की मणियों के चूरण से चौक को पूर रही है, रँगोली सजा रही है। चौक में माँडने माँड रही है। नारद आदि गंधर्व जाति के देव कानों को सुख देनेवाले, प्रसन्नता का द्योतक ध्वनि-नाद कर रहे हैं, विरुदावलि गा रहे हैं।

इन्द्र नट की भाँति तांडव नृत्य (उन्मत्त नृत्य) कर रहे हैं, देवियाँ नृत्य कर रही हैं, किन्नर हाथों में बीन धारणकर उसे बजा रहे हैं। मन व नेत्रों को मोहनेवाली - मन हरनेवाली छवि वहाँ छा रही है।

दौलतराम कहते हैं कि ऐसे प्रभु की महिमा का वर्णन करने हेतु देव व मुनिगण भी समर्थ नहीं हैं। प्रभु के जन्म के समय नरक में दुःखी नारकीजनों को भी साता (सुख-शांति) का उदय व अनुभव होता है।

हाहा, हूहू, नारद व तुंबर - ये चारों गंधर्व जाति के देव हैं।

(६६)

पास अनादि अविद्या मेरी, हरन पास परमेशा है।
चिद्विलास सुखराशप्रकाशवितरन त्रिभोन - दिनेशा है॥
दुर्निवार कंदर्पसर्पको दर्पविदरन खगेशा है।
दुठ-शठ-कमठ-उपद्रवप्रलयसमीर - सुवर्णनगेशा है॥ १॥

ज्ञान अनन्त अनन्त दर्श बल, सुख अनन्त पदमेशा है।
स्वानुभूति-रमनी-वर भवि-भव-गिर-पवि शिव-सदमेशा है॥ २॥

ऋषि मुनि यति अनगार सदा तिस, सेवत पादकुशेसा है।
वदनचन्द्रतैं झरै गिरामृत, नाशन जन्म-कलेशा है॥ ३॥

नाम मंत्र जे जपैं भव्य तिन, अघअहि नशत अशेषा है।
सुर अहमिन्द्र खगेन्द्र चन्द्र ह्वै, अनुक्रम होंहिं जिनेशा है॥ ४॥

लोक-अलोक-ज्ञेय-ज्ञायक पै, रति निजभावचिदेशा है।
रागबिना सेवकजन-तारक, मारक मोह न द्वेषा है॥ ५॥

भद्रसमुद्र-विवर्द्धन अद्भुत, पूरनचन्द्र सुवेशा है।
'दौल' नमै पद तासु, जासु, शिवथल समेदअचलेशा है॥ ६॥

हे पार्श्वनाथ! आप अनादि से चले आ रहे मेरे अज्ञान के बंधन, अज्ञान की शल्य को हरनेवाले परमेश्वर हैं! आप स्व-रूपचिंतन के प्रकाश से तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाले सूर्य हैं।

आप कामदेवरूपी सर्प, जिससे बचना कठिन है, के विष-मद का विदारण करनेवाले गरुड़ पक्षी के समान हैं। आप दुष्ट व कुटिल कमठ के उपसर्ग के समय प्रलयकाल के झंझावात को सहन करनेवाले सुमेरु के समान हैं।

आप अनन्त चतुष्टय - दर्शन, ज्ञान, सुख और बलरूपी लक्ष्मी के धारी हैं, लक्ष्मी के स्वामी हैं। चैतन्य-अनुभूतिरूपी स्त्री के आप स्वामी हो। भव्यजनों के लिए भवरूपी/संसाररूपी पहाड़ पर गिरनेवाली गाज-बिजली हो।

ऋषि, मुनि, यति, गृहत्यागी सदैव आपके चरण-कमलों की वन्दना करते हैं, सेवा करते हैं। आपके मुख-चन्द्र से जन्म-मरण के क्लेश का नाश करनेवाली दिव्यध्वनि खिरती है।

आपके नामरूपी मंत्र की माला जपने से भव्यजनों के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे इन्द्र, अहमिन्द्र, खगेन्द्र, चक्र आदि होकर, क्रम से चढ़कर जिनेश्वर पद को सुशोभित करते हैं, धारण करते हैं।

आप यद्यपि लोक-अलोक के समस्त ज्ञेयों के ज्ञाता हैं फिर भी निज-स्वभाव में रत हैं अर्थात् आत्मनिष्ठ हैं। बिना राग के अपने भक्तों का उद्धार करते हैं। मोह को मारनेवाले होकर भी द्वेषरहित हैं।

सज्जनों के सुखरूपी समुद्र को ज्वार की भाँति बढ़ानेवाले अर्थात् चित्त को प्रमुदित करनेवाले आप पूर्णिमा के चन्द्र के समान अद्‌भुत रूप के धनी हैं और सम्मेदशिखर से मुक्त हुए हैं। इसलिए दौलतराम आपके चरणों की वन्दना करते हैं।

पास - पाश = बंधन, शल्य; त्रिभोनदिनेशा - तीन भुवन के सूर्य; कंदर्प = कामदेव; खगेश = गरुड़ पक्षी; पवि = बिजली।

(६७)

सांवरियाके नाम जपेतैं, छूट जाय भवभामरिया॥ टेक॥

दुरित दुरत पुन पुरत फुरन गुन, आतमकी निधि आगरिया।
विघटत है परदाह चाह झट, गटकत समरस गागरिया॥ १॥

कटत कलंक कर्म कलसायन, प्रगटत शिवपुरडागरिया।
फटत घटाघन मोह छोह हट, प्रगटत भेद-ज्ञान घरिया॥ २॥

कृपाकटाक्ष तुमारीहीतैं, जुगलनागविपदा टरिया।
धार भये सो मुक्तिरमावर, 'दौल' नमै तुव पागरिया॥ ३॥

साँवरे रंगवाले (श्याम वर्णवाले) हे भगवान पार्श्वनाथ! आपका नाम जपने से, नाम स्मरण करने से, भव--भ्रमणरूपी भँवर से छुटकारा हो जाता है।

पाप छुप जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं; गुणों का विकास होता है और आत्मनिधि प्रकाशित हो जाती है, प्रकट होती है। समतारूपी रस से भरी गागर-मटकी को गटकने से, निगलने से, पान करने से अन्य अर्थात् परद्रव्य की कामनारूपी दाह - जलन नष्ट हो जाती है।

कर्मरूपी कलश - पात्र का दाग - काला निशान जैसे ही नष्ट होता है अर्थात् कर्म के हटते ही मोक्ष की राह स्पष्ट दिखाई देने लगती है और मोहरूपी छाई घटा के विघटने से - बादलों के बिखरने से तत्काल भेद-ज्ञान होता है। स्व और पर का भेद स्पष्ट समझ में आने लगता है।

आपकी कृपा-दृष्टि के कारण ही अग्नि में झुलसते नाग के जोड़े का उद्धार हुआ। ऐसे आपको हृदय में धारण करने से अनेकजन मोक्षरूपी लक्ष्मी के स्वामी हो गए। ऐसे आपके चरणों में दौलतराम नमन करते हैं।

भामरिया = भंवर; दुरित = पाप; दुरत = छुपना, हटना, भागना; फुरत = स्फुरण; गटकना = गले के नीचे उतारना; छोह = राग द्वेष।

(६८)

वंदों अद्भुत चन्द्र वीर जिन, भविचकोरचितहारी ॥ टेक ॥

सिद्धारथनृपकुलनभमंडन, खंडनभ्रमतम भारी।
परमानंदजलधिविस्तारन, पापतापछयकारी ॥ १ ॥ वंदों. ॥

उदित निरंतर त्रिभुवन अंतर, कीरति किरण प्रसारी।
दोषमलंककलंक अटंकित, मोहराहु निरवारी ॥ २ ॥ वंदों. ॥

कर्मावरण पयोद अरोधित, बोधित शिवमगचारी।
गणधरादि मुनि उडगन सेवत, नित पूनमतिथि धारी ॥ ३ ॥ वंदों. ॥

अखिल अलोकाकाशउलंघन, जास ज्ञानउजयारी।
'दौलत' मनसाकुमुदनिमोदन, जयो चरम जगतारी ॥ ४ ॥ वंदों. ॥

मैं उन अद्भुत वीर जिनेन्द्र की वंदना करता हूँ, जो चन्द्रमा के समान चकोर अर्थात् भव्यजनों के चित्त को हरनेवाले हैं।

जो राजा सिद्धार्थ के कुलरूपी आकाश को सुशोभित करनेवाले व अज्ञानरूपी अंधकार का अत्यंत नाश करनेवाले हैं। वह परम आनंदरूपी समुद्र के समान विस्तृत हैं और पाप की तपन को नष्ट करनेवाले हैं।

जो तीन लोक में सदैव उदित हैं और जिनका यश किरणों की भाँति सर्वत्र फैल रहा है। जो पापरूपी मल-कलंक का बिना उकेरा हुआ ढेर हैं। आप उस मोहरूपी राहु का निवारण करनेवाले हैं।

जिनके कर्म-आवरणरूपी बादलों की बाधा दूर हो चुकी है, जिन्होंने मोक्षमार्ग पर बढ़नेवालों को निर्मल ज्ञानधारा का उपदेश दिया, जो पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान पूर्ण हैं, नित्य प्रकाशमान हैं, गणधर व मुनिरूपी तारे जिनकी आराधना करते हैं उन अद्भुत वीर जिनेन्द्ररूपी चन्द्र की वन्दना करता हूँ।

जिनके ज्ञान का उजाला अलोकाकाश को भी लाँघ रहा है। दौलतराम कहते हैं कि मनरूपी कुमुदिनी को विकसित करनेवाले, प्रफुल्लित व प्रमुदित करनेवाले, जगत से तारनेवाले हे चरमशरीरी, अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर! आपकी जय हो।

उडुगन = तारागण, दोषं = पाप, लंक - ढेर, पयोद = बादल, चरम जगतारी - अंतिम तीर्थंकर।

(६९)

जय शिव-कामिनि-कन्त वीर, भगवन्त अनन्तसुखाकर हैं।
विधि-गिरि-गंजन बुधमनरंजन, भ्रमतमभञ्जन भाकर हैं॥ जय.॥

जिनउपदेश्यो दुविधधर्म जो, सो सुरसिद्धिरमाकर हैं।
भवि-उर-कुमुदनि मोदन भवतप, हरन अनूप निशाकर हैं॥ १॥ जय.॥

परम विरागि रहैं सबतैं पै, सकलजंतुरक्षाकर हैं।
इन्द्र फणीन्द्र खगेन्द्र चन्द्र जग, -ठाकर ताके चाकर हैं॥ २॥ जय.॥

जासु अनन्त सुगुनमणिगन नित, गनत गनीगन थाक रहैं।
जा प्रभुपद नवकेवललब्धि सु, कमलाको कमलाकर हैं॥ ३॥ जय.॥

जाके ध्यान-कृपान रागरुष, यासहरन समताकर हैं।
'दौल' नमै कर जोर हरन भव, बाधा शिवराधाकर हैं॥ ४॥ जय.॥

हे मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी भगवान महावीर! आपकी जय हो, आप अनन्त सुखों की खान हैं। आप कर्मरूपी पर्वत को ढहा देनेवाले, बुद्धिमानजनों के मन को भानेवाले, भ्रमरूपी अंधकार का नाश करनेवाले सूर्य के समान हैं।

आपने गृहस्थ धर्म व मुनि धर्म – दोनों धर्मों का उपदेश दिया है, जिससे स्वर्ग व मोक्षरूपी लक्ष्मी की सिद्धि होती है, प्राप्ति होती है। आप भव्यजनों के हृदयरूपी कमल-पुष्पों को विकसित करने के लिए तथा भव-दुख के संताप से छुटकारा दिलाकर, उनका हरणकर, प्रसन्नता प्रदान करनेवाले चंद्रमा के समान हैं।

आप परम विरागी हैं, निःस्पृही हैं; फिर भी जगत के सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाले - रक्षा करनेवाले हैं। इन्द्र, नागेन्द्र, खगेन्द्र, चन्द्रमा, नरेन्द्र आदि सारा जगत आपका सेवक है।

आपके अनन्त गुणरूपी मणियों को गणधर भी नित्य-प्रति गिन-गिनकर थक गए हैं, हार गए हैं। केवललब्धि से सुशोभित ऐसे प्रभु के चरण मोक्ष-लक्ष्मी के भण्डार हैं।

जिनके ध्यानरूपी खड्ग/तलवार से राग-द्वेष का नाश होता है, शल्य मिटती है, समता होती है। जो भव-बाधा के हरनेवाले, मोक्षलक्ष्मी को देनेवाले हैं, दौलतराम विनयवत हाथ जोड़कर उनकी वन्दना करते हैं।

विधि = कर्म; भाकर = सूर्य, दुविधधर्म - निश्चय व व्यवहार धर्म, मुनि व गृहस्थ धर्म; सुरसिद्धि - स्वर्ग - मोक्ष; थाक रहे = थक गए।

(७०)

जय श्रीवीर जिनेन्द्रचन्द्र, शतइन्द्रवंद्य जगतारं॥ टेक॥

सिद्धारथकुल-कमल-अमल-रवि, भवभूधरपविभारं।
गुनमनिकोष अदोष मोषपति, विपिन कषायतुषारं॥ १॥ जय.॥

मदनकदन शिवसदन पद-नमित, नित अनमित यतिसारं।
रमाअनंतकंत अंतक-कृत, -अंत जंतुहितकारं॥ २॥ जय.॥

फंद चंदनाकंदन दादुरदुरित तुरित निवारं।
रूद्ररचित अतिरूद्र उपद्रव, -पवन अद्रिपति सारं॥ ३॥ जय.॥

अंतातीत अचिंत्य पहाड़ सुगुन तुम, कहत लहत को पारं।
हे जगमौल 'दौल' तेरे क्रम, नमै शीस कर धारं॥ ४॥ जय.॥

हे जिनेन्द्ररूपी चंद्र - भगवान महावीर आपकी जय हो। आप सौ इन्द्रों द्वारा पूजित हो। आप जगत का उद्धार करनेवाले हो।

राजा सिद्धार्थ के कुलरूपी कमल को विकसित करनेवाले विमल सूर्य हो। आप संसाररूपी पर्वत को ध्वंस करने हेतु वज्र के समान हैं; उसे खंडित करने हेतु गाज (बिजली) के समान हैं। हे मोक्षपति! आप दोषरहित हैं, गुणरूपी मणियों के भण्डार हैं और कषायरूपी वन को नष्ट करने हेतु पाले (सर्दी में खेतों में पड़नेवाली बर्फ) के समान हैं।

कामदेव को जीतनेवाले, मोक्ष-लक्ष्मी के घर हो। नित्य-प्रति यतिलोग साररूप में आपके चरणों की वंदना करते हैं, चरणों में शीश नमाते हैं। आप मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी हो। अंत में मृत्यु को जीतनेवाले अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो। आप जगत का हित करनेवाले हो, कल्याणकारी हो।

चंदना सती के कष्टों का, मेंढ़क के पापों का, रुद्र द्वारा किए गए उपद्रव - पर्वतों को भी उड़ा कर ले जानेवाले भीषण पवन-वेग का अविलंब शमन, निवारण करनेवाले हो।

अनंत और अचिन्त्य, अपार गुणों के धारी हो, जिनका वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है। हे जगत के सिरमौर, आपके ही पथ का अनुगामी-भक्त, मैं दौलतराम दोनों हाथ जोड़कर आपको शीश नमाता हूँ, प्रणत होता हूँ।

भवभूधर पविभारं - संसाररूपी पर्वत के लिए भारी वज्र समान।
अद्रि = पहाड़; क्रम - चरण।

(७१)

हमारी वीर हरो भवपीर ॥ टेक. ॥

मैं दुख-तपित दयामृतसर तुम, लखि आयो तुम तीर।
तुम परमेश मोखमगदर्शक, मोहदवानलनीर ॥ १ ॥ हमारी. ॥

तुम विनहेत जगतउपकारी शुद्ध चिदानंद धीर।
गनपतिज्ञान-समुद्र न लंघै, तुम गुनसिंधु गहीर ॥ २ ॥ हमारी. ॥

याद नहीं मैं विपति सही जो, धर-धर अमित शरीर।
तुम गुन-चिंतत नशत तथा भय, ज्यों घन चलत समीर ॥ ३ ॥ हमारी. ॥

कोटवारकी अरज यही है, मैं दुख सहूं अधीर।
हरहु वेदनाफन्द 'दौलको', कतर कर्म जंजीर ॥ ४ ॥ हमारी. ॥

हे भगवान महावीर! हमारी भव-पीड़ा (संसार-भ्रमण की पीड़ा) का हरण करो।

मैं दु:खों से तप रहा हूँ, आप दयारूपी अमृत के सागर हैं, यह देखकर आपके पास – तट के पास आया हूँ। आप परमेश्वर हैं, मोक्ष-पथ को दिखानेवाले हैं, मोहरूपी अग्नि का शमन करने के लिए नीर हैं, जल हैं।

आप बिना किसी प्रयोजन के – बिना हेतु के जगत का उपकार करनेवाले हैं, शुद्ध आत्मानंद हैं, धैर्यवान हैं। आप गुणों के इतने गहन, गहरे समुद्र हैं कि गणधर का ज्ञान भी उनको लाँघने में; उनका पार पाने में असमर्थ है।

मैंने बार-बार अनेक बार सुंदर देह धारण करके अगणित दु:ख सहे। आपके गुणों के चिंतवन से सारे भय उसी प्रकार विघट जाते हैं जैसे तेज पवन के झोंकों से बादल बिखर जाते हैं।

अनेक बार की, भाँति-भाँति की मेरी अरज-विनती यही है कि अब मैं दु:ख सहते-सहते अधीर हो गया हूँ। दौलतराम कहते हैं कि मेरे कर्मों की जंजीर को काटकर मेरे इस दु:खजाल का हरण करो।

(७२)

सब मिल देखो हेली म्हारी हे, त्रिसलाबाल वदन रसाल॥टेक॥

आये जुतसमवसरन कृपाल, विचरत अभय व्याल मराल,
फलित भई सकल तरूमाल॥ १ ॥सब.॥

नैन न हाल भृकुटी न चाल, वैन विदारै विभ्रम जाल,
छवि लखि होत संत निहाल॥ २ ॥सब.॥

वंदन काज साज समाज, संग लिये स्वजन पुरजन व्राज,
श्रेणिक चलत है नरपाल॥ ३ ॥सब.॥

यों कहि मोदजुत पुरबाल, लखन चाली चरम जिनपाल,
'दौलत' नमत धर धर भाल॥ ४ ॥सब.॥

हे मेरी सहेली! त्रिशला के पुत्र महावीर का सुंदर-सरस मुख सब मिलकर देखो।

उन कृपालु के समवसरन में आने पर मोर व सर्प भी अपना जातिगत विरोध छोड़कर निर्भय विचरण करते हैं और सभी वृक्षादि पर पुनः हरियाली छा गई है, फल आ गए हैं।

जिनके नैन नहीं हिलते, न भृकुटी ही चलायमान होती है, जिनकी दिव्य-ध्वनि भ्रम-जाल का नाश करती है और उस छवि को देख-देखकर संतजन अपने आपको धन्य समझते हैं।

श्रेणिक राजा उन त्रिशलानन्दन महावीर की वंदना करने के निमित्त अपने परिवारजनों, नागरिकों व समाज-समूह को साथ लिये चलकर आते हैं।

नगर के बालकवृंद भी प्रसन्न होकर, आनन्दित होकर जिन परमशरीरी जिनेन्द्रदेव के दर्शन हेतु चलकर आते हैं, उन्हें दौलतराम भी, अपने मस्तक पर धारण कर बार-बार नमन करते हैं।

व्राज = समूह, दल।

(७३)

जय श्री वीरजिन वीरजिन वीरजिनचंद,
कलुषनिकंद मुनिहृदसुखकंद ॥ जय श्री. ॥

सिद्धारथनंद त्रिभुवनको दिनेन्द्रचन्द्र
आज्ञाविकास अघतिमरविकंद ॥ १ ॥ जय श्री. ॥

जाके पद अरविन्द सेवत सुरेन्द्र वृंद,
जाके गुण रटत कटत भवफंद ॥ २ ॥ जय श्री. ॥

जाकी शान्ति मुद्रा निरखत हरखत रिखि,
जाके अनुभवत लहत चिदानन्द ॥ ३ ॥ जय श्री. ॥

जाके घातिकर्म विघटन प्रघटत भये,
अनन्तदरसबोधवीरज आनन्द ॥ ४ ॥ जय श्री. ॥

लोकालोकज्ञाता पैं स्वभावरत राता प्रभु,
जगको कुशलदाता त्राता पै अद्वंद ॥ ५ ॥ जय श्री. ॥

जाकी महिमा अपार गणी न सकै उचार,
'दौलत' नमत सुख चहत अमंद ॥ ६ ॥ जय श्री. ॥

हे श्री महावीर जिनेन्द्र, आपकी जय हो! हे श्री वीर जिनेशा - आप पाप-समूह का नाश करने व मुनिजनों के हृदयों को सुख पहुँचानेवाले पिंड हो! हे सिद्धार्थ राजा के पुत्र! सूर्य व चन्द्र की किरणों के समान प्रसारित - फैलनेवाली आपकी दिव्य ध्वनि जग के लिए/तीन लोक के भ्रमरूपी अंधकार का नाश करनेवाली है।

इंद्रादि का समूह जिनके चरणकमल की भक्ति करता है अर्थात् जो इन्द्रादि देवगणों द्वारा पूजित हैं। जिनके गुण-चिंतवन से संसार के बंधन कट जाते हैं उन महावीर जिनेन्द्र की जय हो।

जिनकी शान्त मुद्रा को देखकर मुनिजनों के मन हर्षित हो जाते हैं और जिनके गुणों का चिंतवन करने से अपनी निज आत्मा की अनुभूति होती है। उन महावीर जिनेन्द्र की जय हो।

जिनके घातिया कर्मों का नाश होने से अनन्त चतुष्टय-दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य प्रकट हो गए हैं, ऐसे उन महावीर जिनेन्द्र की जय हो।

जो लोकालोक के ज्ञाता हैं, फिर भी आत्मस्थ होकर स्वभावरत हैं। जगत का कल्याण करनेवाले हैं और समस्त दु:खों से मुक्तकर - क्लेशविहीन करनेवाले हैं, उन महावीर जिनेन्द्र की जय हो।

जिनकी महिमा को गणधर भी कह नहीं सके, पार न पा सके, दौलतराम उनको नमन करते हैं और अक्षय सुख की अभिलाषा करते हैं।

(७४)

आतम रूप अनूपम अद्‌भुत, याहि लखैं भव सिंधु तरो॥टेक॥

अल्पकाल में भरत चक्रधर, निज आतमको ध्याय खरो।
केवलज्ञान पाय भवि बोधे, ततछिन पायौ लोकशिरो॥१॥

या बिन समुझे द्रव्य-लिंगिमुनि, उग्र तपनकर भार भरो।
नवग्रीवकपर्यन्त जाय चिर, फेर भवार्णवमाहिं परो॥२॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन तप, येहि जगत में सार नरो।
पूरव शिवको गये जाहिं अब, फिर जैहैं, यह नियत करो॥३॥

कोटि ग्रन्थको सार यही है, ये ही जिनवानी उचरो।
'दौल' ध्याय अपने आतमकों, मुक्तिरमा तब वेग वरो॥४॥

आत्मा का स्वरूप अनुपम है, अद्‌भुत है; इसका ही चिंतवन कर इस संसार-सागर से तिर जाओ, पार हो जाओ। भरत चक्रवर्ती ने अपनी शुद्ध आत्मा का चिंतवन कर केवलज्ञान प्राप्त किया और भव्यजनों को संबोधकर थोड़े समय में ही मोक्षगामी हो गए।

इसके (आत्मा के) स्वरूप को समझे बिना, द्रव्यलिंगी मुनि घोर तप कर के भी कर्मों का बोझ ही बढ़ाते हैं, कर्म-निर्जरा नहीं कर पाते। वे नव ग्रैवेयक तक जाकर भी इस संसार-समुद्र में पड़े रहते हैं अर्थात् भव-भ्रमण करते रहते हैं।

जो अब तक मोक्ष को गए हैं; जा रहे हैं व जाएँगे उन्होंने निश्चितरूप से यह जान लिया है और बताया है कि इस जगत में सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप ही अत्यन्त सारवान हैं और यह ही करोड़ों ग्रंथों का सार है। जिनवाणी यह ही, इस तथ्य का ही वर्णन करती है। दौलतराम कहते हैं कि अपनी आत्मा का ध्यान करो तब ही शीघ्रता से मोक्ष-लक्ष्मी का वरण हो सकेगा।

लोक-सिरो = मोक्ष, सिद्धशिला; नियत - निश्चित; नरो = बहुत, नर-पुरुष; तीव्र - घोर।

(७५)

चिन्मूरत दृग्धारीकी मोहे, रीति लगत है अटापटी॥ टेक॥

बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अंतर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी॥ १॥

ज्ञानविरागशक्ति तैं विधि-फल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदननिवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी॥ २॥

जे भवहेतु अबुधके ते तस, करते बन्धकी झटाझटी।
नारक पशु तिय षंढ विकलत्रय, प्रकृतिन की है कटाकटी॥ ३॥

संयम धर न सकै पै संयम, धारकी उर चटाचटी।
तासु सुयश गुनकी 'दौलतके' लगी, रहै नित रटारटी॥ ४॥

यह चैतन्य मूर्ति/चैतन्य आत्मा (जिसे अपने स्वरूप का आभास हो गया है) दृष्टा है, देखने-जाननेवाला है। इसकी कार्य-प्रणाली, काम करने का तरीका अटपटा-सा लगता है।

बाहर देह संबंधी दु:ख जो नारकियों के दु:ख के समान हैं, उनको भोगता हुआ भी, वह अपने अंतरात्मा में सुखानुभूति करता है, सुख को निरंतर पीता है, गटकता है। अनेक देवताओं के साथ बाहर रंगरेलियाँ करते हुए भी उन सब बाह्य क्रियाकलापों से अलग होने की क्रिया करता है अर्थात् स्व और पर का स्पष्ट भेद-चिंतन करता है। उस चेतन मूरत की रीति अटपटी लगती है।

ज्ञान और वैराग्य के बल (शक्ति) से वह कर्मफल को बिना किसी लगाव के भोगता है और कर्मों का क्षय करता हुआ उन्हें कम करता जाता है। यद्यपि वह गृहस्थी है, घर में रहता है तो भी वह उदास है, विरक्त है और इस प्रकार आस्रव (कर्मों के आने) को, उसकी छटा को अलग कर रहा है, छाँट रहा है। उस चेतन मूरत की रीति अटपटी लगती है।

अज्ञानी के तो उनके आचरण द्वारा कर्म जो भव-भ्रमण के, संसार के कारण हैं, जल्दी-जल्दी बँधते जाते हैं किन्तु चिन्मूरत/चैतन्य आत्मा नारकी, पशु, स्त्री, नपुंसक पर्यायों में और दो-तीन-चार इंद्रिय होकर तिर्यंच गतियों में घूमता हुआ भी, गमन करता हुआ भी अपनी कर्म-प्रकृतियों को परस्पर (संक्रमण, उत्कर्षण व अपकर्षण करके) काटता रहता है, उनका नाश करता रहता है।

जो संयम धारण नहीं कर पा रहा, परंतु फिर भी उसे संयम धारण करने की उत्सुकता है, लगन है; दौलतराम कहते हैं, उसे चाहिए कि वह निरंतर आपके आत्मा के गुण और सुयश को रटते रहें, निरंतर गाते रहें।

षंड = नपुंसक; सदन निवासी = गृहस्थ।

(७६)

आप भ्रमविनाश आप आप जान पायौ,
कर्णधृत सुवर्ण जिमि चितार चैन थायौ॥ आप. ॥

मेरो मन तनमय, तन मेरो मैं तनको
त्रिकाल यौं कुबोध नाश, सुबोधभान जाग्यौ॥ १॥ आप. ॥

यह सुजैनबैन ऐन, चिंतन पुनि पुनि सुनैन,
प्रगटो अब भेद निज, निवेदगुन बढायौ॥ २॥ आप. ॥

यौं ही चित अचित मिश्र, ज्ञेय ना अहेय हेय,
इंधन धनंजय जैसे, स्वामियोग गायौ॥ ३॥ आप. ॥

भंवर पोत छुटत झटति, बांछित तट निकटत जिमि,
रागरुख हर जिय, शिवतट निकटायौ॥ ४॥ आप. ॥

विमल सौख्यमय सदीव, मैं हूँ मैं नहिं अजीव,
द्योत होत रज्जु में, भुजंग भय भगायौ॥ ५॥ आप. ॥

यौं ही जिनचंद सुगुन, चिंतत परमारथ गुन,
'दौल' भाग जागो जब, अल्पपूर्व आयौ॥ ६॥ आप. ॥

अपने भ्रम का, अपने संदेह का नाश करने पर ही मैं अपने आपको जान पाया हूँ, इससे मैं अत्यन्त सन्तुष्ट/प्रसन्न हूँ, जैसे कानों से आत्मसात किये हुए/धारण किये हुए (सुने हुए) स्वर्ण को प्रत्यक्ष देखकर सन्तोष मिलता है अर्थात् अब तक जिसे सुनकर जाना था अब उसे प्रत्यक्ष देखकर/अनुभवकर चित्त में संतोष व प्रसन्नता होती है।

यह शरीर मेरा है, और सदा ही मैं इस तन का हूँ - ऐसी एकाग्रता/तन्मयता है जो कि मिथ्या है, जब यह मिथ्याज्ञान टूट जाता है तब ज्ञानरूपी सूर्य का उदय होता है।

जिनेन्द्र के इन वचनों पर जब बार-बार विभिन्न नय-पक्षों द्वारा चिंतन किया जाता है तब शरीर व आत्मस्वरूप की भिन्न प्रतीति होती है और धर्म में रुचि बढ़ती है, वैराग्य उत्पन्न होने लगता है।

यह जीव-पुद्गल से तन्मय होकर हेय और अहेय (उपादेय) का भेद नहीं कर पाता (अग्नि व ईंधन का योग एक उत्तम योग माना जाता है, स्वामियोग माना जाता है। इसमें जो कुछ भी डालो सब अग्निमय हो जाता है इसलिए), जैसे ईंधन और आग दोनों एकमेक हो जाते हैं ऐसा ही योग वह जीव व पुद्गल का समझने लगता है।

नाव के भँवर में से निकलते ही वांछित (इच्छित, चाहा हुआ) तट निकट प्रतीत होने लगता है, निकट आ जाता है, उसी प्रकार राग-द्वेषरूपी भँवर से निकलते ही अर्थात् राग-द्वेष का नाश होते ही, मोक्ष का तट समीप ही लगता है, आ जाता है।

जैसे उजाला होते ही रस्सी को साँप समझे रहने की भ्राँति मिट जाती है उसी प्रकार 'स्व' का बोध/उजाला होते ही मैं सदा सुखमय हूँ, मैं अजीव नहीं हूँ, ऐसा ज्ञान हो जाता है।

दौलतराम कहते हैं कि अपने कल्याण के लिए श्री जिनेन्द्र के गुणों का चिंतवन सूर्योदय के पूर्व पौ फटने के जैसा एक अवसर है जो भाग्यवश उपलब्ध हुआ है।

धृत - धारण करना; सुनैन = नय सहित; निवेदगुण = धार्मिकता, धनंजय = अग्नि; स्वामियोग = उत्तम योग, जिसमें सब कुछ स्वामिमय हो जाता है; अल्प पूर्व = पौ फटने का समय।

(७७)

चेतन यह बुधि कौन सयानी, कही सुगुरु हित सीख न मानी॥
कठिन काकतालीं ज्यौं पायौ, नरभव सुकुल श्रवनु जिनवानी॥ चेतन.॥

भूमि न होत चाँदनीकी ज्यौं, त्यौं नहिं धनी ज्ञेयको ज्ञानी।
वस्तुरूप यौं तू यौं ही शठ, हटकर पकरत सोंज विरानी॥ १॥ चेतन.॥

ज्ञानी होय अज्ञान राग-रुषकर निज सहज स्वच्छता हानी।
इन्द्रिय जड़ तिन विषय अचेतन, तहां अनिष्ट इष्टता ठानी॥ २॥ चेतन.॥

चाहै सुख, दुख ही अवगाहै, अब सुनि विधि जो है सुखदानी।
'दौल' आपकरि आप आपमैं, ध्याय त्याय लय समरससानी॥ ३॥ चेतन.॥

अरे चेतन! तेरी बुद्धि का यह कैसा सयानापन है, कैसी चतुराई है कि तू सत्गुरु द्वारा दी गई तेरे हित की सीख-उपदेश को भी नहीं मानता, उसके अनुसार आचरण नहीं करता! काकतालीय न्याय अर्थात् ऐसे कठिन संयोग से तूने यह नर-भव और उसमें भी ऐसा अच्छा कुल पाया है जिसमें जिनवाणी को सुनने का अवसर मिला है।

चंद्रमा की ज्योति - चाँदनी जिस भूमि पर पड़ रही है वह भूमि चाँदनी की नहीं हो जाती है, उसी प्रकार तू ज्ञानी यह विचारकर कि तेरे ज्ञान में झलक रहे ज्ञेयों का तू स्वामी नहीं है। वस्तुस्वरूप जैसा है उसको वैसा न मानकर तू पर के परिणाम को अपना मानने व उसको पकड़ने की क्रिया कर रहा है।

तू ज्ञानी होकर भी अज्ञान के कारण राग-द्वेषरूपी मैल के द्वारा अपनी आत्मा की निर्मलता की हानि कर रहा है और पौद्गलिक जड़ - इंद्रिय-विषय जो कि तेरे समान चेतन नहीं है, में इष्ट-अनिष्ट अभिप्राय जोड़ रहा है, स्थापित कर रहा है।

तू चाहता तो सुख है, परंतु दुःखों में ही डुबकी लगा रहा है, अब सुन कि सुख प्राप्त करने की विधि - तरीका क्या है! दौलतराम कहते हैं कि तू अपने आप में अपने स्वरूप का चिंतवन कर, जिसके ध्यान करने से समता आती है, इससे तू समता के रस में सन जावेगा, ओत-प्रोत हो जावेगा, लीन हो जावेगा।

(७८)

चेतन कौन अनीति गही रे, न मानैं सुगुरु कही रे॥
जिन विषयनवश बहु दुख पायो, तिनसौं प्रीति ठही रे॥ चेतन.॥

चिन्मय है देहादि जड़नसौं, तो मति पागि रही रे।
सम्यग्दर्शनज्ञान भाव निज, तिनकौं गहत नहीं रे॥ १॥ चेतन.॥

जिनवृष पाय विहाय रागरुष, निजहित हेत यही रे।
'दौलत' जिन यह सीख धरी उर, तिन शिव सहज लही रे॥ २॥ चेतन.॥

हे चेतन! तू यह कैसा अनीतिपूर्ण आचरण कर रहा है कि सत्गुरु ने जो सीख दी है, जो तेरे हित की बात कही है, जो उपदेश दिया है तू उसको नहीं मानता! जिन इंद्रिय-विषयों के कारण तूने बहुत दुखों का उपार्जन किया है, उनमें ही तू प्रीति लगा रहा है - उनसे अपनापन जोड़ रहा है!

तू चैतन्य स्वरूप होकर भी पुद्गल जड़ वस्तुओं में अपनापन जोड़ रहा है, उनको अपना मान रहा है, उनमें मन लगा रहा है। तेरे अपने भाव, स्व-भाव तो सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान हैं, जिन्हें तू स्वीकार नहीं कर रहा है।

जैनधर्म पाकर तू राग-द्वेष को छोड़ दे, तेरा हित इसी में है। दौलतराम कहते हैं कि जिनने इस सीख को, उपदेश को हृदय में धारण किया, स्वीकार किया उनको मुक्ति का मार्ग सहज हो गया अर्थात् वे सुगमता से मुक्त हो गए।

चेतन तैं यौं ही भ्रम ठान्यो, ज्यों मृग मृगतृष्णा जल जान्यो।
ज्यौं निशितममैं निरख जेवरी, भुजंग मान नर भय उर आन्यो॥
ज्यौं कुध्यान वश महिष मान निज, फँसि नर उरमाहीं अकुलान्यौ।
त्यौं चिर मोह अविद्या पैठयो, तेरो तैं ही रूप भुलान्यो॥ १॥
तोय तेल ज्यौं मेल न तनको, उपज खपज मैं सुखदुख मान्यो।
पुनि परभावनको करता ह्वै, तैं तिनको निज कर्म पिछान्यो॥ २॥
नरभव सुथल सुकुल जिनवानी, काललब्धि बल योग मिलान्यो।
'दौल' सहज भज उदासीनता, तोष-रोष दुखकोष जु भान्यो॥ ३॥

हे चेतन ! तू भ्रमवश भटक रहा है, जैसे मृग जल की चाह में, मिट्टी के ऊपर चमकते कणों को ही जल समझ कर भागता है; जैसे रात्रि के गहरे अँधेरे में रस्सी को साँप समझकर मनुष्य का हृदय भय से भर जाता है उसी भाँति तू भी भ्रम को धारणकर भटक रहा है।

जैसे खोटे ध्यानवश भैंसे का ध्यान करनेवाला अपने को मोटा व बलवान भैंसा मानता हुआ सोचने लगता है, समझने लगता है, चिन्ता करने लगता है कि वह इस छोटे-से द्वार से बाहर कैसे निकल सकता है? और इसी चिन्तन के कारण अंतरंग में आकुलित होता है; वैसे ही तू अनादि से मोहवश अविद्या में रमकर अपना ही स्वरूप भूल गया है।

जैसे पानी और तेल का मेल नहीं होता उसी भाँति इस शरीर और आत्मा का भी मेल नहीं है फिर भी तू इस शरीर के उत्पन्न होने व विनाश होने में सुख व दुःख मानता है। फिर फिर इन पर-भावों का कर्ता होकर, उनको अपना ही कर्म पहचानता है, समझता है।

यह नरभव, यह श्रेष्ठ क्षेत्र, अच्छा कुल और जिनवाणी - ये सब संयोग काललब्धि के बल से मिले हैं। दौलतरामजी कहते हैं कि अब तू विरागता को भज, स्वीकार कर और तुष्टि व विरोध को, क्रोध को, राग-द्वेष को दुःख की खान-भंडार जान।

तोय = पानी; खपज = मृत्यु, विनाश होना; तोष - तुष्टि, रोष - विरोध, कोप; भान्यो - जानना।

(८०)

चेतन अब धरि सहजसमाधि, जातैं यह विनशै भव ब्याधि॥ टेक॥

मोह ठगौरी खायके रे, परको आपा जान।
भूल निजातम ऋद्धिको तैं, पाये दुःख महान॥ १॥ चेतन.॥

सादि अनादि निगोद दोयमें, पर्यो कर्मवश जाय।
श्वासउसासमँझार तहां भव, [illegible] अठारह थाय॥ २॥ चेतन.॥

कालअनन्त तहां यौं बीत्यो, जब भइ मन्द कषाय।
भूजल अनिल अनल पुन तरु है, काल असंख्य गमाय॥ ३॥ चेतन.॥

क्रमक्रम निकसि कठिन तैं पाई, शंखादिक परजाय।
जल थल खचर होय अघ ठाने, तस वश श्वभ्र लहाय॥ ४॥ चेतन.॥

तित सागरलों बहु दुख पाये, निकस कबहुं नर थाय।
गर्भ जन्मशिशु तरुणवृद्ध दुख, सहे कहे नहिं जाय॥ ५॥ चेतन.॥

कबहूं किंचित पुण्यपाकतैं चउविधि देव कहाय।
विषयआश मन त्रास लही तहं, मरन समय बिललाय॥ ६॥ चेतन.॥

यौं अपार भवखारवार में, भ्रम्यो अनन्ते काल।
'दौलत' अब निजभावनाव चढि, लै भवाब्धिकी पाल॥ ७॥ चेतन.॥

हे चेतन! अब ऐसी सहज समाधि अर्थात् एकाग्रता को धारण करो जिससे यह संसार-भ्रमण की व्याधि छूट जाए, नष्ट हो जाए।

मोहरूप ठगिनी से ठगाया जाकर, सुधिबुधि भूलकर पर को ही अपना समझने लगा। अपनी आत्मा की शक्ति को भूल गया और इस कारण बहुत दुःख पाए।

जीव सादि निगोद और अनादि निगोद में कर्मों के वश पड़ा रहा, वहाँ एक श्वास (नाड़ी की एक बार धड़कन) में अठारह बार जन्म-मरण करता रहा।

वहाँ अनन्त काल इसी प्रकार बीत गये, फिर जब कषायों में कुछ मन्दता, कमी आई तब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पतिकायिक होकर असंख्यात काल तक भ्रमण करता रहा।

फिर वहाँ से निकलकर क्रम से दो इंद्रिय शंखादिकी पर्याय पाई और फिर जल-थल-नभवासी होकर बहुत पापार्जन किया, जिसके कारण नरकगामी हुआ।

वहाँ बहुत सागरपर्यन्त दुःख पाया, फिर किसी प्रकार वहाँ से निकलकर कहीं मनुष्य भव पाया, जहाँ गर्भ, जन्म, बचपन, यौवन व वृद्धावस्था में अनेक दुःख पाये, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

फिर कुछ पुण्य कर्मों के फलस्वरूप चारों देव निकाय - भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष और वैमानिक में उत्पन्न होकर देव कहलाया, जहाँ विषयों की आशा ही मन को सदैव दुःखी करती रही और मरण-समय पर्याय-वियोग (देव-पर्याय छूटने) के कारण बहुत दुःखी हुआ।

इस प्रकार संसार सागर के खारे जल में अनन्तकाल तक भ्रमण करता रहा। दौलतराम कहते हैं कि अब तो तू अपने निज-स्वरूप को सँभाल कर, निज-भाव अर्थात् स्व-भावरूपी नाव में बैठकर इस संसार-समुद्र का किनारा पकड़ ले।

(८१)

चिदरायगुन सुनो मुनो प्रशस्त गुरुगिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीयमें थिरा॥ चिदरायगुन.॥

निजभावके लखाव बिन, भवाब्धिमें परा।
जामन मरन जरा त्रिदोष, अग्निमें जरा॥ १॥ चिदरायगुन.॥

फिर सादि औ अनादि दो, निगोदमें परा।
तहं अंकके असंख्यभाग, ज्ञान ऊबरा॥ २॥ चिदरायगुन.॥

तहां भव अन्तरमुहूर्तके कहे गनेश्वरा।
छयासठ सहस त्रिशत छतीस, जन्म धर मरा॥ ३॥ चिदरायगुन.॥

यौं वशि अनंतकाल फिर, तहांतै नीसरा।
भूजल अनिल अनल प्रतेक, तरुमें तन धरा॥ ४॥ चिदरायगुन.॥

अनुंधरीसु कुंथु काणमच्छ अवतरा।
जल थल खचर कुनर नरक, असुर उपज मरा॥ ५॥ चिदरायगुन.॥

अबके सुथल सुकुल सुसंग, बोध लहि खरा।
'दौलत' त्रिरत्न साध लाध, पद अनुत्तरा॥ ६॥ चिदरायगुन.॥

हे चिद्रूप! हे चेतन राजा! सत्गुरु की प्रमाणिक वाणी सुनो और उसका मनन करो! सब विभाव छोड़कर निज भाव में, स्व-भाव में स्थिर हो जाओ, स्थित हो जाओ, ठहर जाओ।

निज स्वरूप के चिन्तन के अभाव में, मैं भव-समुद्र में पड़ा हुआ हूँ। जन्म-मरण और बुढ़ापे के त्रिदोषों की आग में जलता रहा हूँ।

फिर सादि और अनादि दो प्रकार की निगोद पर्याय में पड़ा रहा, जहाँ केवल अक्षर के असंख्यातवें भाग जितना ही ज्ञान था अर्थात् शेष सारे ज्ञान पर/अनन्तज्ञान पर आवरण था।

गणधरों में श्रेष्ठ, केवली अरहंत ने बताया है कि एक अन्तर्मुहूर्त काल में ६६,३३६ बार जन्मा व मृत्यु को प्राप्त हुआ।

यों वहाँ अनंतकाल तक भ्रमण कर, रहकर, फिर वहाँ से निकला और इसप्रकार निगोद से निकलकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति में शरीर धारण करता रहा।

फिर वहाँ से निकल कर, कुंथु हुआ, कानमच्छ हुआ। जल में, थल में, नभ में - तिर्यंचों में, खोटे मनुष्यों में, नरक में, व्यंतर आदि में जन्म लिया और मरा।

अब अच्छा स्थान-क्षेत्र, अच्छा कुल, सत्संग और तीक्ष्ण विवेक/बुद्धि भी पाई है। दौलतराम कहते हैं कि तीन रत्न अर्थात् रत्नत्रय को साधकर उस परमशान्त अनुपम पद को प्राप्त करो।

अनुंधरीसु (अनधरीर) - निराश्रित, निराधार; कुंथु - दो इंद्रिय कीड़ा
लाध = प्राप्त करना, अनुत्तरा = मौन, शान्त।

(८२)

चित चिंतकैं चिदेश कब, अशेष पर वमू।
दुखदा अपार विधि दुचार की चमू दमू॥
तजि पुण्यपाप थाप आप, आपमें रमू।
कब राग-आग शर्म-बाग, दागिनी शमू॥ १॥

दृग-ज्ञानभानतैं मिथ्या, अज्ञानतम दमू।
कब सर्व जीव प्राणिभूत, सत्त्वसौं छमू॥ २॥

जल मल्ललिप्त कल सुकल, सुबल्ल परिनमू।
दलके त्रिशल्लमल्ल कब, अटल्लपद पमू॥ ३॥

कब ध्याय अज अमरको फिर न, भवविपिन भमू।
जिन पूर कौल 'दौल' को यह, हेतु हौं नमू॥ ४॥

ऐसा अवसर कब आवे कि मैं अपने चित्त में अपनी आत्मा का चिंतवन कर शेष सारे पर को त्याग दूँ अर्थात् समस्त पर को, अन्य को छोड़कर कब मैं अपने स्वरूप में लीन हो जाऊँ और अपार दुःख को देनेवाली आठ कर्मों की सेना का दमन करूँ!

पाप-पुण्य की स्थिति को छोड़कर मैं अपने आप में रमण करूँ और शान्ति देनेवाले उद्यान को जलानेवाली इस रागरूपी आग का शमन करूँ।

दर्शन और ज्ञानरूपी सूर्य से अज्ञान, मिथ्यात्व के अंधकार को नाश करूँ और जीवों के प्राणमय तत्व को समझकर क्षमा करूँ व स्वयं क्षमा चाहूँ अर्थात् समता धारण करूँ।

जल, मल से लिप्त इस शरीर का बलशाली होकर अच्छा परिणमन हो, परम औदारिक स्वरूप हो और तीन शल्य - माया, मिथ्यात्व और निदान का दलन कर, नाशकर मोक्षपद को प्राप्त करूँ।

कब इस जन्म-मृत्युरहित आत्मा का ध्यान करूँ जिससे संसार-वन के भ्रमण से मुक्त हो जाऊँ! दौलतराम कहते हैं कि जो अपने दिव्य-वचन और सत्य से भरे-पूरे हैं, ऐसे जिनेन्द्र को मैं इस हेतु नमन करता हूँ।

(८३)

राचि रह्यो परमाहिं तू अपनो, रूप न जानै रे॥टेक॥
अविचल चिनमूरत विनमूरत, सुखी होत तस ठानै रे॥
तन धन भ्रात तात सुत जननी, तू इनको निज जानै रे॥
ये पर इनहिं वियोगयोग में, यौं ही सुख दुख मानै रे॥१॥
चाह न पाये पाये तृष्णा, सेवत ज्ञान जघानै रे।
विपतिखेत विधिबंधहेत पै, जान विषय रस खानै रे॥२॥
नर भव जिनश्रुतश्रवण पाय अब, कर निज सुहित सयानै रे।
'दौलत' आतम ज्ञान-सुधारस, पीवो सुगुरु बखानै रे॥३॥

हे जीव ! तू पर में ही रुचि लगाए हुए है, तू अपने स्वरूप को नहीं पहचान रहा है। तू अचल-स्थिर है, चिन्मय है, चैतन्य है, तेरा अन्य कोई रूप नहीं है, तू मूर्त नहीं है, तू अपनी निज की अवस्था में ही सुखी रहता है।

तू देह को, धन को, भाई, पिता, पुत्र, माता इनको अपना जान रहा है; ये सब तुझसे अन्य हैं, पर हैं, इनके संयोग-वियोग में ही तू सुख व दुःख मानता रहता है।

तू जो चाह करता है उसकी पूर्ति नहीं होती, तृष्णा बनी रहती है और तू खोटे अर्थात् जघन्य ज्ञान की साधना करता है जो दुःखों को देनेवाले कर्मबंध का कारण है, ऐसे इंद्रिय-विषय जो भोगों की खान हैं, की साधना करता है।

यह नरभव तुझे मिला है, अब जिनवाणी को, जिनेन्द्र की वाणी को सुनकर, समझकर अरे ज्ञानी ! तू अपना हित समझ ले, हित करले। दौलतराम कहते हैं कि सत्गुरु द्वारा कहा गया, बताया गया, उस आत्मज्ञानरूपी अमृतरस का पान करो।

(८४)

मेरे कब है वा दिन की सुघरी ॥ टेक ॥
तन विन वसन असनविन वनमें, निवसों नासादृष्टिधरी ॥
पुण्यपापपरसौं कब विरचौं, परचौं निजनिधि चिरविसरी।
तज उपाधि सजि सहजसमाधी, सहों घाम हिममेघझरी ॥ १ ॥
कब थिरजोग धरों ऐसो मोहि, उपल जान मृग खाज हरी।
ध्यान-कमान तान अनुभव-शर, छेदों किहि दिन मोह अरी ॥ २ ॥
कब तृनकंचन एक गनों अरु, मनिजडितालय शैलदरी।
'दौलत' सत गुरुचरन सेव जो, पुरवो आश यह हमरी ॥ ३ ॥

मेरे कब उस दिन की सुघड़ी अर्थात् शुभमुहूर्त आवे, जब मैं नग्न दिगम्बर होकर अर्थात् सब वस्त्र छोड़कर बिना किसी भोजन के वन में रहूँ अर्थात् नासादृष्टि लगाकर साधना करूँ।

जड़ से, पुण्य-पाप से कब विरक्त होऊँ और अपनी निधि को, आत्मा को जिसे दीर्घकाल से भुला रखा है उसे जानूँ अर्थात् उससे परिचय करूँ। सब प्रकार की उपाधि को छोड़कर सहज समाधि में लीन होऊँ और गर्मी, सर्दी व वर्षा की झड़ी की तीव्रता को सहन करूँ।

कब ऐसे योग-साधना में मैं स्थिर होऊँ कि शरीर की (पाषाण की-सी) निश्चलता को देखकर भोले हरिण अपनी देह की खुजली के निवारण के लिए पाषाण समझकर अपना शरीर खुजाने लगें। ध्यान की कमान तानकर, अनुभवरूपी बाण से मोह-शत्रु का छेदन करूँ।

कब ऐसी समझ होवे कि तिनका और स्वर्ण-मणिजड़ित महल व पर्वत की कंदराओं को समान, एक-सा समझूँ। दौलतराम कहते हैं कि सत्गुरु के चरणों की सेवा करो, भक्ति करो जिससे यह आशा पूरी हो जावे।

विरचौ - विरक्त होना, परचौ - परिचित होना, मणिजड़ितालय = रत्नजड़ित महल, शैलदरी - पर्वत की कंदरा।

(८५)

ज्ञानी ऐसी होली मचाई ॥ टेक ॥

राग कियौ विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति सुहाई।
धार दिगम्बर कीन्ह सु संवर, निज परभेद लखाई।
धाय विषयनिकी बचाई ॥ १ ॥

कुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तनमें तान उड़ाई।
कुंभक ताल मृदंगसौं पूरक, रेचक बीन बजाई।
लगन अनुभवसौं लगाई ॥ २ ॥

कर्मबलीता रूप नाम अरि, वेद सुइन्द्रि गनाई।
दे तप अग्नि भस्म करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई।
करि शिव तियकी मिलाई ॥ ३ ॥

ज्ञानको फाग भागवश आवै, लाख करौ चतुराई।
सो गुरु दीनदयाल कृपाकरि, 'दौलत' तोहि बताई।
नहीं चितसे विसराई ॥ ४ ॥

ज्ञानी ने ऐसी होली रचाई है अर्थात् इस प्रकार होली खेली है - उन्होंने राग को छोड़कर अर्थात् वीतरागी होकर जंगल को अपना घर बना लिया है। अब उन्हें (सुमति की दृष्टि से) कुमति दुष्ट सौत की भाँति लगती है, अब उनने दिगम्बर वेष धारणकर, कर्मों का आश्रव रोककर संवर धारण किया है और निज-पर के भेद को जान लिया है। इस प्रकार वे विषयों की मार से बचते हैं।

उन्होंने भेद-ज्ञानसहित ध्यान में लीन होकर, तन को अर्थात् देह को स्थिर कर जो तान उड़ाई, गीत गाया उससे कुमतिरूपी मित्र भाग खड़ा हुआ। पूरक (श्वास को भीतर लेने की) क्रिया के द्वारा मृदंग के समान होकर कुंभक (श्वास को भीतर रोकने की) क्रिया की ताल के साथ रेचक (श्वास बाहर निकालने की) क्रिया द्वारा बीन बजाई। अर्थात् प्राणायाम द्वारा श्वास का सुनियोजन कर, साथ कर ज्ञानी आत्मचिंतन में लीन होते हैं।

जिन्होंने मोहनीय कर्मरूपी बलीता (ईंधन) व इंद्रिय विषयों के वेदन को तप की अग्नि में भस्मकर अघातिया कर्मों की राख उड़ाई; जिसके कारण उनका मोक्षरूपी लक्ष्मी से मिलन हुआ। लाख चतुराई करो पर ऐसे सम्यक्ज्ञान का फाग-होलिकोत्सव का संयोग बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। दौलतराम कहते हैं कि वह सब जो दीनदयालु, कृपालु गुरु ने तुझे बता दिया है उसे चित्त से न भुला अर्थात् सदैव ध्यान में रख।

पूरक - प्राणायाम में श्वास भीतर लेना;

कुंभक - प्राणायाम में श्वास को भीतर रोकना; रेचक = श्वास को बाहर निकालना।

(८६)

मेरो मन ऐसी खेलत होरी॥ टेक॥

मन मिरदंग साज-करि त्यारी, तनको तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सरंगी बजाई, ताल दोउ कर जोरी।
राग पांचौं पद कोरी॥ १॥ मेरो.॥

समकित रूप नीर भर जारी, करुना केशर घोरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ करमाहिं सम्होरी।
इन्द्रि पांचौं सखि वोरी॥ २॥ मेरो.॥

चतुर दानको है गुलाल सो, भरि भरि मूठि चलोरी।
तप मेवाकी भरी निज झोरी, यशको अबीर उडोरी।
रंग जिनधाम मचोरी॥ ३॥ मेरो.॥

'दौल' बाल खेलें अस होरी, भवभव दुःख टलोरी।
शरना ले इक श्रीजनको री, जगमें लाज हो तोरी।
मिलै फगुआ शिवगोरी॥ ४॥ मेरो.॥

यह मेरा मन, प्रतीकात्मक रूप से इस प्रकार होली खेलता है - यह मनरूपी मृदंग को तैयारकर, देह को तम्बूरा बनाकर तथा सुंदर, सुमतिरूपी सारंगी को बजाकर दोनों हाथ जोड़-जोड़ कर ताल दे रहा है और पंचम स्वर से टीप पर आलाप लगा रहा है। पंचमगति से सुर मिला रहा है, अर्थात् अपने को ऊँचे लक्ष्य से जोड़ रहा है, उस स्थिति के चिंतन में लीन हो रहा है, एक-लय हो रहा है।

समकित/समतारूपी नीर से झारी भरकर, उसमें करुणारूपी केशर घोल दी और अपने दोनों हाथों में ज्ञानमयी पिचकारी सँभालकर पंचेन्द्रिय-सखियों की ओर छोड़ी और उन्हें निशाना बनाया।

करुणा-दानरूपी गुलाल की मुट्ठी भरकर फेंक रहा है, तप-साधनारूपी मेवा अपनी झोली में डालकर, चारों दिशाओं में अपने सुयश के रंग उड़ा रहा है। जिनेश्वर के धाम में इस प्रकार होली खेली जा रही है।

दौलतराम की सीधी इच्छा है कि वे भी बालक समान होकर इस प्रकार होली खेलें जिससे भव-भव के दुःख दूर हो जावें, टल जावें। वे औरों को भी समझाते हैं कि तू श्री जिन की एकमात्र शरण में जा जिससे जगत में तेरी लाज/इज्जत बचे और तुझे मोक्षरूपी लक्ष्मी प्राप्त हो।

ओरी - ओर।

(८७)

आज गिरिराज निहारा, धनभाग हमारा।
श्रीसम्मेद नाम है जाको, भूगर तीरथ भारा॥ आज.॥

तहां बीस जिन मुक्ति पधारे, अवर मुनीश अपारा।
आरजभूमिशिखामनि सोहै, सुरनरमुनि-मनप्यारा॥ १॥ आज.॥

तहं थिर योग धार योगीसुर, निज परतत्त्व विचारा।
निज स्वभावमें लीन होयकर, सकल विभाव निवारा॥ २॥ आज.॥

जाहि जजत भवि भावनतैं जब, भवभवपातक टारा।
जिनगुन धार धर्मधन संचो, भव-दारिदहरतारा॥ ३॥ आज.॥

इक नभ नवइक वर्ष (१९०१) माघवदि, चौदश बासर सारा।
माथ नाय जुत साथ 'दौल' ने, जय जय शब्द उचारा॥ ४॥ आज.॥

आज गिरिराज (सम्मेदशिखर) के दर्शन किए हैं, अतः धन्य भाग्य हैं हमारे। इसका नाम सम्मेदशिखर है, जो इस पृथ्वी पर बहुत बड़ा तीर्थ है। यहाँ से बीस तीर्थंकर और अपार मुनिजन मुक्त हुए हैं। इस भूमि का कण-कण, मिट्टी, पहाड़ों की चोटियाँ अत्यंत शोभित हैं जो देवों को, मनुष्यों को व मुनियों के मन को अत्यन्त प्यारी लगती हैं।

यहाँ मुनिजन स्थिर योग धारणकर भेद-ज्ञान का, स्व-पर का चिंतवन करते हैं और फिर अपने स्व-भाव में मगन होकर, लीन होकर समस्त अन्य भावों को छोड़ देते हैं।

भव्यजन भावसहित वंदना करके भव-भव के पापों का नाश करते हैं, उन्हें टाल देते हैं। जिनेन्द्र के समान गुणों को धारणकर धर्मरूपी संपत्ति का संचय करते हैं, जिससे भव-भव के दुःख-दारिद्र दूर हो जाते हैं। माघ वदि चौदस (विक्रम संवत्) उन्नीस सौ एक के दिन दौलतराम ने शीश नमाकर सबके साथ जय-जयकार किया अर्थात् भगवान ऋषभदेव के मोक्ष कल्याणक के दिन कवि ने इस तीर्थ की भक्तिपूर्वक वंदना की।

(८८)

जिया तुम चालो अपने देश, शिवपुर थारो शुभ थान॥ टेक.॥
लख चौरासीमें बहु भटके, लह्यौ न सुखरो लेश॥ १॥ जिया.॥
मिथ्यारूप धरे बहुतेरे, भटके बहुत विदेश॥ २॥ जिया.॥
विषयादिक बहुत दुख पाये, भुगते बहुत कलेश॥ ३॥ जिया.॥
भयो तिरजंच नारकी नर सुर, करि करि नाना भेष॥ ४॥ जिया.॥
'दौलतराम' तोड़ जगनाता, सुनो सुगुर उपदेश॥ ५॥ जिया.॥

हे जीव ! तुम अपने देश में चलो। शिवपुर/मोक्ष ही तुम्हारा स्थान है और वह शुभ स्थान है।

चौरासी लाख योनियों में बहुत भटक लिये, परंतु कहीं पर तनिक-सा भी सुख नहीं मिला।

अनेक मिथ्यावेश-रूप तुमने धारण किए और अनेक विदेशों, जो तुम्हारे अपने देश नहीं है, में तुम भटकते रहे।

इन्द्रिय-विषयों के कारण बहुत दु:ख पाए और बहुत संक्लेश सहे।

चारों गतियों - तिर्यंच, मनुष्य, नरक और स्वर्ग आदि में अनेक रूप में जन्म लिया।

दौलतराम कहते हैं कि हे जीव! तुम सत्गुरु का उपदेश सुनो और इस जगत से अपना नाता - संबंध तोड़ लो।

(८९)

मत कीज्यौ जी यारी, घिनगेह देह जड़ जान के॥ टेक॥

मात-तात रज-वीरजसौं यह, उपजी मलफुलवारी।
अस्थिमाल पलनसाजाल की, लाल लाल जलक्यारी॥ १॥ मत.॥

कर्मकुरंगथलीपुतली यह, मूत्रपुरीषभंडारी।
चर्ममंडी रिपुकर्मघड़ी धन, धर्म चुरावन-हारी॥ २॥ मत.॥

जे जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्व निगारी।
स्वेदमेदकफक्लेदमयी बहु, मदगदव्यालपिटारी॥ ३॥ मत.॥

जा संयोग रोगभव तौलौं, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासौं न ममत्व करैं यह, मूढमतिनको प्यारी॥ ४॥ मत.॥

जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी।
जिन तपठान ध्यानकर शोषी, तिन परनी शिवनारी॥ ५॥ मत.॥

सुरधनु शरदजलद जलबुदबुद, त्यौं झट विनशनहारी।
यातैं भिन्न जान निज चेतन, 'दौल' होहु शमधारी॥ ६॥ मत.॥

हे जीव! इस घिनौनी देह को जड़-पुद्गल जानकरके इससे मित्रता मत करो, अपनापन मत करो।

यह मैल की फुलवारी काया माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न हुई है। यह रक्तरंजित - खून से सनी, हाड़-मांस और नसों के जाल से वेष्टित देह है।

यह देह हरिण (जीव) को फँसाने के लिए लगे जाल (पुतली) के समान है, मल-मूत्र का भंडार/स्थान है। कर्मों को घड़नेवाली यह चमड़े से ढकी काया धर्मरूपी धन को चुरानेवाली है अर्थात् निज स्वरूप से विमुख करानेवाली है।

यह देह संसार की सभी वस्तुओं को अपवित्र करनेवाली है; पसीना, चर्बी, कफ, मवाद से भरी अभिमानरूपी विषैले सर्प की पिटारी है।

इसके संयोग से भव--भ्रमणरूपी रोग पलता है और इसके वियोग से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। हे ज्ञानी, यह देह मूर्खजनों को प्यारी है, तू तो विवेकी है, तू इससे किसी प्रकार का मोह मत कर।

जिन्होंने इसका पोषण किया वे दोष के भागी, दोष को पनपानेवाले हुए और उन्होंने अत्यंत दुःख पाए और जिनने तप-ध्यान के द्वारा इसे सुखा डाला उन्होंने मोक्ष का वरण किया।

जिस प्रकार इन्द्रधनुष, शरद ऋतु के बादल और पानी के बुलबुले तुरंत ही मिट जाते हैं वैसे ही यह देह भी शीघ्र नष्ट हो जाती है इसलिए अपने चेतन-आत्मा से इसे भिन्न जानकर समता को धारण करो।

अस्थिमाल = हाड़-हड्डियों की माल; पल--नसाजाल = मांस-नसों का समूह; पुतली = हरिणों को फँसाने के लिए उपयोग को जानेवाली पुतली के समान; पुरीष - विष्ठा, मल; स्वेद - पसीना; क्लेद - दुःख; शोषी = शोषण किया; सुरधनु = इन्द्रधनुष; शम = समता, शांति।

(९०)

मत कीज्यौ जी यारी, ये भोग भुजंग सम जानके॥ टेक॥

भुजग डसत इकबार नसत हैं, ये अनंत मृतुकारी।
तिसना तृषा बढै इन सेयें, ज्यौं पीये जल खारी॥ १॥ मत.॥

रोग वियोग शोक वनको धन, समता-लताकुठारी।
केहरी करी अरी न देत ज्यौं, त्यौं ये दैं दुखभारी॥ २॥ मत.॥

इनमें रचे देव तरु थाये, पाये श्वभ्र मुरारी।
जे विरचे ते सुरपति अरचे, परचे सुख अधिकारी॥ ३॥ मत.॥

पराधीन छिनमाहिं छीन है, पापवंधकरतारी।
इन्हैं गिनैं सुख आकमाहिं तिन, आमतनी बुंधे धारी॥ ४॥ मत.॥

मीन मतंग पतंग भृंग मृग, इन वश भये दुखारी।
सेवत ज्यौं किंपाक ललित, परिपाक समय दुखकारी॥ ५॥ मत.॥

सुरपति नरपति खगपतिहू की, भोग न आस निवारी।
'दौल' त्याग अब भज विराग सुख, ज्यौं पावै शिवनारी॥ ६॥ मत.॥

इन भोगों को, विषयों को भुजंग अर्थात् सर्प के समान विषैला जानो और इनमें रुचि न लो। इनसे राग मत करो - प्रीति मत करो।

सर्प द्वारा एक बार डसने से मृत्यु हो जाती है, परंतु ये भोग (कर्म शृंखला के बंधन से) बार बार, अनंत बार मृत्युकारक हैं - मृत्यु देनेवाले हैं। जिस प्रकार खारा जल पीने से प्यास नहीं बुझती बल्कि और अधिक तीव्र हो जाती है उसी प्रकार इन इन्द्रिय-विषयों को भोगने से तृप्ति/संतुष्टि नहीं होती बल्कि भोगों की चाह और अधिक बढ़ती जाती है।

ये विषय-भोग, रोग-शोक-वियोगरूपी वन को बढ़ानेवाले बादल के समान हैं। सिंह, हाथी और दुश्मन भी ऐसे दुःख नहीं देते जितने भारी दुःख ये विषय-

भोग देते हैं। ये (विषय-भोग) समतारूपी लता को काटनेवाली कुल्हाड़ी के समान घातक हैं।

इनमें लिप्त होकर देव भी एकेन्द्रिय-स्थावर आदि पर्याय पाते हैं और नारायण भी नरक गति को प्राप्त होते हैं। जो इनसे विरक्त होते हैं वे अत्यधिक सुख के अधिकारी होते हैं, इन्द्रों द्वारा पूजनीय होते हैं।

जो इनके पराधीन होते हैं वे सब क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं, पापों का बंध करते हैं। विषयों में, भोग में सुख माननेवाले उसी प्रकार हैं जैसे कोई आम के स्वाद को छोड़कर आक में ही सुख समझते हैं।

आटे के लोभ में मछली, काम-वासना के कारण हाथी, दीपक पर लुब्ध होकर पतंग, सुगंध के कारण भौंरा, संगीत की ध्वनि से वशीभूत होकर मृग अत्यन्त दुःख पाते हैं। जैसे बाहर से अच्छा दिखाई देनेवाला किंपाक का फल (इन्द्रायण फल) भीतर से कड़ुआ होने के कारण (सेवन करने पर) अन्त में फल देने के समय अत्यंत दुःखदायी होता है वैसे ही ये विषय भी प्रारंभ में अच्छे लगते हैं, किन्तु फल देते समय अत्यन्त दुःखदायी होते हैं।

इन्द्र, नरेन्द्र, खगपति (पक्षी-सूर्य चन्द्रादि) की आशा भी भोग से पूरी नहीं होती। दौलतराम कहते हैं कि अरे तुम वैराग्य को धारण करो जो मोक्ष-सुख को देनेवाला है।

करी - हाथी; श्वभ्र = नरक; विरचे = वैरागी हुए; मुरारी = नारायण; भृंग = भौंरा; किंपाक - एक प्रकार का कड़ुआ फल।

(९१)

मत राचो धीधारी, भव रंभथंभसम जानके ॥ टेक ॥

इन्द्रजालको ख्याल मोह ठग, विभ्रमपास पसारी।
चहुंगति विपतिमयी जामें जन भ्रमत भरत दुख भारी ॥ १ ॥ मत. ॥

रामा मा, मा वामा, सुत पितु, सुता श्वसा, अवतारी।
को अचंभ जहां आप आपके, पुत्र दशा विसतारी ॥ २ ॥ मत. ॥

घोर नरक दुख ओर न छोर न, लेश न सुख विस्तारी।
सुरनर प्रचुर विषयजुर जारे, को सुखिया संसारी ॥ ३ ॥ मत. ॥

मंडल है आखंडल छिन में, नृप कृमि सधन भिखारी।
जा सुत विरह मरी ह्वै वाघिनि, ता सुत देह विदारी ॥ ४ ॥ मत. ॥

शिशु न हिताहितज्ञान तरुण उर, मदनदहन पर जारी।
वृद्ध भये विकलांगी थाये, कौन दशा सुखकारी ॥ ५ ॥ मत. ॥

यौं असार लख छार भव्य झट, भये मोखमगचारी।
यातैं होउ उदास 'दौल' अब, भज जिनपति जगतारी ॥ ६ ॥ मत. ॥

हे बुद्धिमान! इस जीवन को केले के थंभ (स्तंभ) के समान नि:सार व नश्वर जानकर इसमें अनुरक्त मत होओ।

इस मोहरूपी ठग ने इन्द्रजाल की भाँति विभ्रम का जाल चारों ओर फैला रखा है जिसमें चारों गतियाँ अति दु:ख से भरी हुई हैं और यह जीव इसमें भटक रहा है, भारी दु:ख उठा रहा है।

उस भवरूपी नदी में कभी माता, कभी स्त्री, कभी पुत्र, कभी पिता, कभी बेटी, कभी बहन होकर जन्मे हैं, वहाँ क्या आश्चर्य है कि अपने ही कुटुम्ब/पुत्र - संतति का विस्तार हुआ है (अर्थात् अपने ही परिवार में पुन:जन्म ले लिया हो)।

जहाँ नरक के-से दु:खों का कहीं अन्त नहीं दिखाई देता, जिसमें तनिक भी सुख नहीं है - ऐसे विषम ज्वर के ताप में जल रहे कौन से संसारीजन सुखी हैं?

जहाँ क्षणमात्र में कुत्ता देव हो जाता है, राजा कीड़ा हो जाता है, धनवान भिखारी हो जाता है! जहाँ अपने पुत्र के विरह में मरकर पुन: बाघिनी के रूप में जन्म लेकर अपने ही पुत्र की देह का विदारण करती है।

बचपन में अपने हित/अहित का ज्ञान नहीं होता। यौवन काल में काम-वासना में जलता है और वृद्ध होने पर अंग शिथिल होकर विकलांग हो जाता है, इसमें कौनसी दशा सुखकारी है?

ऐसे इस संसार की असारता को देखकर हे भव्य! तू अविलंब मोक्षमार्ग का अनुगमन कर। दौलतराम कहते हैं कि इस संसार से विरक्त-उदास होकर अब जिनेन्द्रदेव के गुणों का चिंतवन कर, भजन कर।

रंभ-थंभ = केले का थंभा/तना; धी = बुद्धि, वामा - स्त्री; श्वसा = बहिन; मंडल = कुत्ता; आखंडल = इन्द्र, देव ।

(१२)

हे मन तेरी को कुटेव यह, करनविषय में धावै है॥ टेक॥

इनहीके वश तू अनादितैं, निजस्वरूप न लखावै है।
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुर्गति विपति चखावै है॥१॥

फरस विषयके कारन बारन, गरत परत दुख पावै है।
रसनाइन्द्रीवश झष जलमें, कंटक कंठ छिदावै है॥२॥

गन्धलोल पंकज मुद्रितमें, अलि निज प्रान खपावै है।
नयनविषयवश दीप-शिखा में, अंग पतंग जरावै है॥३॥

करनविषयवश हिरन अरनमें, खलकर प्रान लुनावै है।
'दौलत' तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है॥४॥

अरे मन! तेरी यह आदत खोटी है कि तू इंद्रियविषयों की ओर दौड़ता है। तू अनादि से इन ही के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को नहीं देख पा रहा है। पराधीन होकर, प्रत्येक क्षण क्षीण होकर आकुलता उत्पन्न करनेवाली खोटी गति का व विपत्तियों का स्वाद चखता है अर्थात् दुःखी होता है।

स्पर्श इंद्रिय के वशीभूत होकर हाथी गड्ढे में गिर कर दुःख पाता है और रसना इंद्रिय के वशीभूत होकर जल में मछली अपने कंठ को काँटे से छेद लेती है।

घ्राण के वशीभूत होकर भँवरा कमल में बंद होकर अपने प्राणों की बाजी लगाता है और नेत्रों के विषयवश पतंगा दीपक की लौ में पड़कर अपना शरीर जला देता है।

कानों में मधुर ध्वनि सुनकर, उसमें मुग्ध होकर हरिण वन में अपने प्राण गँवा देता है। दौलतराम कहते हैं कि सत्गुरु यह ही सीख देते हैं कि इनको छोड़ कर जिनेन्द्र भगवान के भजन में लग जा।

बारन - हाथी; गरत - गर्त, गड्ढा; झष - मछली; मुद्रित = बंद कमल; अरन = वन; लुनावै - नष्ट करना।

(९३)

हो तुम शठ अविचारी जियरा, जिनवृष पाय वृथा खोवत हो॥टेक॥
पी अनादि मदमोहस्वगुननिधि, भूल अचेत नींद सोवत हो॥

स्वहित सीखवच सुगुरु पुकारत, क्यों न खोल उर-दृग जोवत हो।
ज्ञान विसार विषयविष चाखत, सुरतरु जारि कनक बोवत हो॥१॥

स्वारथ सगे सकल जनकारन, क्यों निज पापभार ढोवत हो।
नरभव सुकुल जैनवृष नौका, लहि निज क्यों भवजल डोवत हो॥२॥

पुण्यपापफल वातव्याधिवश, छिनमें हँसत छिनक रोवत हो।
संयमसलिल लेय निजउर के, कलिमल क्यों न 'दौल' धोवत हो॥३॥

अरे जियरा! जो तुमने यह जैनधर्म पाया है, इस अवसर को दुष्ट व अविचारी अर्थात् विवेकहीन होकर तुम व्यर्थ ही खो रहे हो। अनादि काल से मोहरूपी वारुणी शराब पीकर मोहवश अपने निज स्वरूप को/गुण को भूलकर अचेत सोये पड़े हो।

अपने हृदय की आँख खोलकर अर्थात् विवेकसहित क्यों नहीं देखते कि सत्गुरु अपने ही हित का उपदेश दे रहे हैं। कल्पवृक्ष को जलाकर वहाँ धतूरा उगाने के समान तुम ज्ञान को भूलकर विषयरूपी विष को चख रहे हो।

अपने-अपने स्वार्थ के कारण सब सगे हो जाते हैं; फिर तुम क्यों पाप का भार अपने ऊपर ढोते हो। यह मनुष्य जन्म, अच्छा कुल जैनधर्मरूपी नौका पाकर भी तुम अपने को क्यों इस भव-समुद्र में डुबा रहे हो !

पुण्य-पाप के फल से और वात के समान चंचल व्याधि के वशीभूत हो उनके वश होकर तुम कभी हँसते हो, कभी प्रसन्न होते हो और कभी दुःखी होकर रोते हो। अरे दौलतराम ! तुम संयमरूपी जल से हृदय के मैल को क्यों नहीं धोते हो !

कनक = धतूरा।

(१४)

मान ले या सिख मोरी, झुकै मत भोगन ओरी॥टेक॥

भोग भुजंगभोगसम जानो, जिन इनसे रति जोरी।
ते अनन्त भव भीम भरे दुख, परे अधोगति पोरी,
बँधे दृढ़ पातकडोरी॥ १॥

इनको त्याग विरागी जे जन, भये ज्ञानवृषधोरी।
तिन सुख लह्यौ अचल अविनाशी, भवफांसी दई तोरी,
रमै तिन संग शिवगोरी॥ २॥

भोगनकी अभिलाष हरनको, त्रिजगसंपदा थोरी।
यातैं ज्ञानानंद 'दौल' अब, पियौ पियूष कटोरी,
मिटै भवव्याधि कठोरी॥ ३॥

अरे जीव ! तू मेरी यह सीख मान ले; विषय-भोगों की ओर मत झुक, उस ओर रुचि न लगा।

ये इंद्रियविषय भयानक नाग के समान विषैले हैं, इनमें रत मत हो, इनमें मत राच अर्थात् इनमें रुचि न कर ! इनके कारण अनन्त भव/काल तक भारी दु:ख सहे हैं और अधोगति में जाकर डूबता रहा है, पाप की डोरी की पकड़ मजबूत होकर कसती रही है अर्थात् कर्मबंधन दृढ़ होते रहे हैं।

इन विषय-कषायों को छोड़ककर जो ज्ञानरूपी धर्म के धारी हो गए हैं उनको कभी विनाश को प्राप्त न होनेवाले व निरंतर बने रहनेवाले स्थायी सुख की प्राप्ति हुई है और वे भव-भ्रमण के फंदे को तोड़कर मोक्ष लक्ष्मी के साथ रमण करने लगे अर्थात् मोक्षगामी हुए।

भोगों की चाह को पूरी करने के लिए तीन लोक की संपत्ति भी थोड़ी है। इस कारण दौलतराम कहते हैं कि अब धर्मरूपी अमृत की कटोरी पीओ, जिससे भव-भ्रमण की कठिन बाधा मिट जाए।

(९५)

मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानी॥ टेक॥
भयौ अचेत मोह-मद पीके, अपनी सुधि बिसरानी॥

दुखी अनादि कुबोध अबूततैं, फिर तिनसौं रति ठानी।
ज्ञानसुधा निजभाव न चाख्यौं, परपरनति मति सानी॥ १॥

भव असारता लखै न क्यौं जहँ, नृप ह्वै कृमि विट-थानी।
सघन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरिसे प्रानी॥ २॥

देह एह गद-गेह नेह इस, हैं बहु विपति निशानी।
जड़ मलीन छिनछीन करमकृत,-बन्धन शिवसुखहानी॥ ३॥

चाहज्वलन ईंधन-विधि-वन-घन, आकुलता कुलखानी।
ज्ञान-सुधा-सर शोषन रवि ये, विषय अमित मृतुदानी॥ ४॥

यौं लखि भव-तन-भोग विरचि करि, निजहित सुन जिनवानी।
तज रुषराग 'दौल' अब अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी॥ ५॥

हे मनुष्य ! तू विवेकपूर्ण उपदेश को क्यों नहीं मानता है ? मोहरूपी शराब को पीकर तू अपने आपको भूल गया, अचेत हो गया है।

तू मिथ्यात्वी होकर, मिथ्या आचरण कर इनमें रत हो रहा है और अपने ज्ञानस्वरूप को न जानकर/उसका आस्वादन न कर तू पर-परिणति में सना हुआ है, डूब रहा है, चिपक रहा है।

तू इस संसार की असारता को क्यों नहीं देखता जहाँ राजा भी मरकर अपने खराब भावों के कारण विष्ठा में कीड़ा होकर जन्मा। जहाँ धनी भी निर्धन हो जाता है, राजा दास हो जाता है, अपने पराए/शत्रु हो जाते हैं और दु:खी प्राणी भी हर्षित हो जाते हैं।

यह देह रोगों का घर है। तू इसमें नेह/अपनापन जोड़ रहा है। यह सब विपत्ति की निशानी है, कष्टप्रद है। यह पुद्गल देह मल से सना है, क्षण-क्षण में नष्ट

होनेवाला है। कर्म करके कर्मबंधन में बँधता है जिससे आत्मीय सुख की प्रतीति/अनुभव नहीं होता, उसकी हानि होती है।

इस कर्मरूपी बने जंगल में इच्छाएँ जो कि आकुलतादायक हैं अर्थात् दु:ख की खान हैं वे ही जलने योग्य ईंधन हैं। विवेक-ज्ञानरूपी सरोवर को सुखाने के लिए ये विषय ही अपरिमित, अथाह मृत्यु के दाता हैं अर्थात् ये विषय-सुख ही बार-बार मृत्यु के कारण हैं, संसार-भ्रमण के कारण हैं, बार-बार देह धारण करने के कारण हैं।

यह सब देखकर तो तू इस संसार से, देह से, उसके भोगों से विरक्त होकर उनसे रुचि हटाकर अपना हित करनेवाली जिनेन्द्र की वाणी को, उपदेश को सुन ! दौलतराम कहते हैं कि श्रीजिनदेव बार-बार समझाते हैं कि अभी भी अवसर है तू राग-द्वेष को छोड़ दे।

कृमि = कीड़ा; विट = विष्ठा, मल; गद = रोग।

(९६)

जानत क्यौं नहिं रे, हे नर आतमज्ञानी ॥ टेक ॥
रागदोष पुद्गलकी संपति, निहचै शुद्धनिशानी ॥ जानत. ।

जाय नरकपशुनरसुरगतिमें, यह परजाय बिरानी ।
सिद्धसरूप सदा अविनाशी, मानत विरले प्रानी ॥ १ ॥ जानत. ।

कियौ न काहू हरै न कोई, गुरु-शिख कौन कहानी ।
जनममरनमलरहित विमल है, कीचबिना जिमि पानी ॥ २ ॥ जानत. ॥

सार पदारथ है तिहुं जगमें, नहिं क्रोधी नहिं मानी ।
'दौलत' सो घटमाहिं विराजे, लखि हूजे शिवथानी ॥ ३ ॥ जानत. ॥

हे मनुष्य ! यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानी है । तू यह बात क्यों नहीं जानता है ! निश्चय से इसकी (आत्मा की) निशानी यह है कि यह शुद्ध है, राग-द्वेष पुद्गल के आश्रित हैं । ये (राग-द्वेष) तेरी नहीं, पुदुगल की संपत्ति है ।

यह आत्मा नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव चारों पर्यायों/गतियों में जाता है, ये सब पर्यायें परायी हैं, अनजान हैं । परन्तु कुछ विवेकी, बुद्धिमान - जो बिरले ही होते हैं - यह जानते हैं कि यह आत्मा सिद्धस्वरूप है, कभी नाश को प्राप्त नहीं होता ।

कोई किसी का कुछ नहीं करता, किसी का कुछ नहीं छीनता, कौन गुरु है और कौन शिष्य - यह एक कहानी मात्र है । जैसे कीचड़ के बिना पानी निर्मल होता है उसी भाँति जन्म-मरण के मेल से रहित आत्मा ही विमल है, निर्मल है ।

तीन लोक में यह आत्मा ही साररूप पदार्थ है जो न क्रोधी है और न मानी । दौलतराम कहते हैं कि वह आत्मा सदैव ही हृदय में विराजमान है, जिसने उसे देखा, जाना व पहिचाना वह ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, मोक्ष के निवास को पाता है ।

बिरानी - बेगाना, पराया, अनजान ।

(९७)

छांडि दे या बुधि भोरी, वृथा तनसे रति जोरी॥ टेक॥

यह पर है न रहै थिर पोषत, सकल कुमल की झोरी।
यासौं ममता कर अनादितैं, बंधो कर्मकी डोरी,
सहै दुःख जलधि हिलोरी॥ १॥ छांडि॥

यह जड़ है तू चेतन यौं ही, अपनावत बरजोरी।
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण निधि, ये हैं संपति तोरी,
सदा विलसौ शिवगोरी॥ २॥ छांडि॥

सुखिया भये सदीव जीव जिन, यासौं ममता तोरी।
'दौल' सीख यह लीजे पीजे, ज्ञानपियूष कटोरी,
मिटै परचाह कठोरी॥ ३॥ छांडि॥

हे जीव ! तू बिना किसी अर्थ के, बिना किसी प्रयोजन के इस तन से - देह से ममत्व करता है, नाहक अपनापन जोड़ता है। यह भोली बुद्धि छोड़ दे।

यह देह पर है, पुद्गल है। इसको पोषण करते-करते भी यह स्थिर नहीं रह पाती - नष्ट हो जाती है। यह मैल से भरी झोली है। इसमें ममता कर अर्थात् अपनापन मानकर अनादिकाल से कर्म-डोर से अपने को बाँधता रहा है और दुःख के सागर में लहरों के साथ डूबता-उतराता रहा है।

यह जड़ है, चेतन नहीं है। तू निरर्थक ही इसका पक्षपाती होकर इसको अपना मान रहा है। तेरी संपत्ति तो रत्नत्रय-सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। उस मोक्षरूपी लक्ष्मी को सदैव भोगो।

जिनने इस तन से ममत्व तोड़ दिया/हटा दिया वे जीव सदा के लिए सुखी हो गये। दौलतराम शिक्षा देते हैं, सलाह देते हैं कि तू ज्ञानरूपी अमृत की कटोरी पी जिससे तेरी पर को चाहनेवाली ये कठोर कामनाएँ-अभिलाषाएँ सब मिट जाएँ।

(१८)

छांडत क्यौं नहिं रे, हे नर ! रीति अयानी।
बारबार सिख देते सुगुरु यह, तू दे आनाकानी॥ छांडत.।

विषय न तजत न भजत बोध तप, दुखसुखजाति न जानी।
शर्म चहै न लहै शठ ज्यौं घृतहेत विलोवत पानी॥ १॥ छांडत.।

तन धन सदन स्वजनजन तुझसौं, ये परजाय विरानी।
इन परिनमनविनशउपजन सों, तैं दुःख सुख-कर मानी॥ २॥ छांडत.॥

इस अज्ञानतैं चिरदुख पाये, तिनकी अकथ कहानी।
ताको तज दृग-ज्ञान-चरन भज, निजपरनति शिवदानी॥ ३॥ छांडत.॥

यह दुर्लभ नर-भव सुसंग लहि, तत्त्व लखावन वानी।
'दौल' न कर अब पर में ममता, धर समता सुखदानी॥ ४॥ छांडत.॥

हे नर ! तू अपनी ज्ञानरहित क्रियाओं को क्यों नहीं छोड़ता ! तुझे बार-बार सत्गुरु समझाते हैं, पर तू उसे मानता ही नहीं है।

तू न इंद्रिय-विषयों को छोड़ता न ज्ञान और तप की आराधना करता। तू दुःख व सुख की जाति को नहीं जानता, उनको नहीं पहचानता। तू शान्ति चाहता है, पर उसके लिए तू कुछ उपाय नहीं करता, तू उस मूर्ख की भाँति क्रिया करता है जो पानी को बिलोकर घृत (घी) निकालने की कामना करता है।

ये देह, धन, घर-बार, कुटुंबी-परिवारजन सब तुझसे भिन्न हैं, भिन्न पर्याय के हैं; इनके उत्पाद-व्यय में, जन्म-मरण में, संयोग-वियोग में तू सुख और दुःख की मान्यता करता है।

इस अज्ञान के कारण तू दीर्घकाल से दुःख पा रहा है, जिनकी कथा कही नहीं जा सकती। उन सबको अब छोड़; रत्नत्रय (दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की आराधना कर। अपने स्वभाव में रमण ही मोक्ष को देनेवाला है।

यह मनुष्य पर्याय, यह सत्संग और तत्व का स्वरूप बतानेवाली यह जिनवाणी, इनका यह संयोग अत्यंत दुर्लभ है। दौलतराम कहते हैं कि यह जानकर अब भी अन्य में, पर में ममत्व-बुद्धि छोड़, मोह मत कर। समता धारण कर, यह ही सुख को देनेवाला मंत्र है।

(९९)

लखो जी या जिय भोरे की बातैं, नित करत अहित हित घातैं ॥टेक॥

जिन गनधर मुनि देशवृती समकिती सुखी नित जातैं।
सो पय ज्ञान न पान करत न, अघात विषयविष खातैं॥ १ ॥ लखो.॥

दुखस्वरूप दुखफलद जलदसम, टिकत न छिनक बिलातैं।
तजत न जगत भजत पतित नित, रचत न फिरत तहातैं॥ २ ॥ लखो.॥

देह-गेह-धन-नेह ठान अति, अघ संचत दिनरातैं।
कुगति विपतिफलकी न भीत, निर्शिचत प्रमाददशातैं॥ ३ ॥ लखो.॥

कबहुं न होय आपने पर, द्रव्यादि पृथक् चतुधातैं।
पै अपनाय लहत दुख शठ नभै, - हतन चलावत लातैं॥ ४ ॥ लखो.॥

शिवगृहद्वार सार नरभव यह, लहि दश दुर्लभतातैं।
खोवत ज्यौं मनि काग उड़ावत, रोवत रंकपनातैं॥ ५ ॥ लखो.॥

चिदानन्द निर्द्वंद स्वपद तज, अपद विपद-पद रातैं।
कहत-सुशिखगुरु गहत नहीं उर, चहत न सुख समतातैं॥ ६ ॥ लखो.॥

जैनवैन सुन भवि बहु भव हर, छूटे द्वंददशातैं।
तिनकी सुकथा सुनत न भुनत न, आतम-बोधकलातैं॥ ७ ॥ लखो.॥

जे जन समुझि ज्ञानदृगचारित, पावन पयवर्षातैं।
तापविमोह हर्यो तिनको जस, 'दौल' त्रिभोन विख्यातैं॥ ८ ॥ लखो.॥

हे जीव ! देखो, इस भोले-मूर्ख की बात देखो, यह अपने हित की हानि कर रहा है, अपना अहित कर रहा है।

जिनेन्द्रदेव, गणधर, मुनि, देशव्रती क्षुल्लक-ऐलक सम्यक्दर्शन धारण करके, समतामय होकर नित्य सुखी होते हैं। पर यह जीव उस ज्ञानरूपी अमृत

का पान नहीं करता और इन्द्रियजन्य विषय-विष का पान करते हुए तृप्त नहीं होता है, अर्थात् अघाता नहीं है, थकता नहीं है।

जो दु:खस्वरूप है, साक्षात् दु:ख है और दु:खों को देनेवाले घने बादलों के समान है; जो अस्थिर हैं - टिकते नहीं हैं, प्रत्येक क्षण में विलीन होते रहते हैं, होते हैं और मिटते जाते हैं उन दु:खों के जगत को नहीं छोड़ता, पापी उस ही की चाह करता है, उसमें ही राच रहा है, उससे विमुख नहीं होता।

यह देह, घर-बार, धन आदि से प्रीति स्थापित करता है और दिन-रात पाप का संचय करता है; कुगतिरूप विपत्तियाँ और देहरूपी कारा से नहीं डरता अपितु उनके प्रति भी प्रमादी होकर निश्चिंत हो रहा है, बेफिक्र हो रहा है।

पर-पदार्थ कभी भी अपना नहीं होता। सभी द्रव्य अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते हैं। परन्तु यह उन्हें अपने भावरूप परिणमा कर दु:ख ही पाता है और शून्य आकाश में हाथ-पाँव मारने-चलाने के समान, नभ-ताड़न की निरर्थक क्रिया करता है।

यह नरभव-मोक्ष का द्वार है अर्थात् मोक्ष-गमन का साधन है क्योंकि मनुष्य भव/पर्याय से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी भव से नहीं। यह भव, यह पर्याय बहुत मुश्किल से प्राप्त होती है। जैसे कोई बुद्धिहीन व्यक्ति कौवे को उड़ाने के लिए अपना रत्न/मणि फेंक देता है फिर अपनी दरिद्रता पर रोता है। उसी प्रकार इस नरभव को व्यर्थ के कामों में बिताना हाथ में आए सुअवसर को गँवाकर दु:ख ही उपजाना है।

अपने चिदानंद को, अपने स्वरूप को जो सब प्रकार के द्वन्द्वों से रहित है, भूलकर, उसे छोड़कर अन्य कष्टों में, विपत्तियों में अपने को डालता है। सुगुरु जो उपदेश देते हैं उनको हृदय में ग्रहण नहीं करता और समता रखकर सुख की अनुभूति नहीं करता अर्थात् विकल होता रहता है।

हे भव्य ! श्री जिनेन्द्र के वचन सुनकर तू इस संसार के झंझटों से, द्वंद्व से छूट क्यों नहीं जाता ! न तू उनकी कथा को सुनता है और न उन गुणों का चिन्तवन करता है जिनसे आत्मा का बोध होता है।

जो इस सत्य को समझते हैं वे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमृत की वर्षा का आनन्द लेते हैं, उसका पान करते हैं। दौलतराम कहते हैं कि यह त्रिभुवन में प्रसिद्ध है, लोक में ख्यातिप्राप्त है कि उनके यशगान से विमोह का ताप दूर होता है।

चतुघातैं - स्व-चतुष्टय; नभै-हतन = नभ-ताड़न - नभ को मारने की क्रिया; मुनत - मनन करना; दु:ख फलद जलद सम = दु:खरूपी फल देनेवाले बादल के समान।

(१००)

सुनो जिया ये सतगुरु की बातैं, हित कहत दयाल दया मैं॥ टेक॥

यह तन आन अचेतन है तू, चेतन मिलत न यातैं।
तदपि पिछान एक आतमको, तजत न हठ शठ-तातैं॥ १॥ सुनो.॥

चहुंगति फिरत भरत ममताको, विषय महाविष खातैं।
तदपि न तजत न रजत अभागै, दृगव्रतबुद्धिसुधातैं॥ २॥ सुनो.॥

मात तात सुत भ्रात स्वजन तुझ, साथी स्वारथ नातैं।
तू इन काज साज गृहको सब, ज्ञानादिक मत घातै॥ ३॥ सुनो.॥

तन धन भोग संजोग सुपनसम, वार न लगत बिलातैं।
ममत न कर भ्रम तज तू भ्राता, अनुभव-ज्ञान कलातैं॥ ४॥ सुनो.॥

दुर्लभ नर-भव सुथल सुकुल है, जिन उपदेश लहा तैं।
'दौल' तजो मनसौं ममता ज्यों, निवडो द्वंद दशातैं॥ ५॥ सुनो.॥

अरे जिया ! तू सत्गुरु का उपदेश सुन; वे दयालु, करुणाकर तेरे हित के लिए कहते हैं।

यह देह अचेतन है और तू चेतन है, यह अन्य है, तुझसे भिन्न है इसलिए इस देह से तेरा मेल नहीं है तथापि तू इसमें घुल-मिल रहा है, एकाकार हो रहा है। तू मूर्ख अपनी हठ छोड़कर अपने आत्मा को पहचान !

तू मोहवश चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ, इंद्रियविषयों के भोगरूपी महाविष का पान कर रहा है। फिर भी तू उसको नहीं छोड़ता। हे भाग्यहीन, उनमें तू रंजायमान (तृप्त, प्रसन्न) मत हो; दर्शन, ज्ञान व व्रतरूपी अमृत का पान कर।

माता-पिता, पुत्र-भाई और तेरे कुटुम्बीजन-सब ही स्वारथ के संबंधी हैं; तू इनके लिए घर को सुव्यवस्थित व सुसज्जित बनाने में लगकर अपने ज्ञान आदि का नाश मत कर।

यह तन, यह धन और इनका भोग - ये सब संयोग स्वप्नवत् हैं और इनके विलय होने में देर नहीं लगती। इनसे ममत्व मत कर। तू अनुभव और ज्ञान से समझकर अपना भ्रम छोड़ दे।

यह मनुष्य जन्म, अच्छा क्षेत्र, अच्छा कुल तुझे मिला है और साथ ही जिसमें तुझे श्री जिनेन्द्र का उपदेश सुनने का अवसर मिला है। दौलतराम कहते हैं कि मन से ममत्व को छोड़कर इस दुविधाभरी दशा से छुटकारा पाओ।

(१०१)

मोही जीव भरमतमतैं नहिं, वस्तुस्वरूप लखै है जैसैं॥टेक॥

जे जे जड़ चेतन की परनति, ते अनिवार परनवै वैसै।
वृथा दुखी शठ कर विकलप यौं, नहिं परिनवैं परिनवैं ऐसैं॥१॥

अशुचि सरोग समल जड़मूरत, लखत विलात गगनघन जैसैं।
सो तन ताहि निहार अपनपो, चहत अबाध रहै थिर कैसैं॥२॥

सुत-पित-बंधु-वियोगयोग यौं, ज्यौं सराय जन निकसै पैसैं।
विलखत हरखत शठ अपने लखि, रोवत हँसत मत्तजन जैसैं॥३॥

जिन-रवि-वैन किरन लहि जिन निज, रूप सुभिन्न कियौ परमैसैं।
सो जगमौल 'दौल' को चिर-थित, मोहविलास निकास हुदैसैं॥४॥

मोही जीव, मोहग्रस्त जीव भ्रमरूपी अंधकार के कारण वस्तु-स्वरूप जैसा है उसे वैसा नहीं देखकर अन्यथा देखता है, अंशरूप देखता है।

पुद्गल का व जीव का परिणमन एक निश्चित रूप में होता है, उनके परिणमन के सम्बन्ध में, उनके संबंध में यह अल्पज्ञानी विकल्प करता रहता है कि इनका परिणमन इस प्रकार न होकर अन्य प्रकार से हो जाये।

यह देह अशुचि--अपवित्र है, रोगसहित है, मलसहित है, मूर्त-जड़रूप है और आकाश में बादलों के विलीन होने के समान यह देह भी देखते-देखते विलीन हो जाती है, ओझल हो जाती है। तू इस देह से अपनापन जोड़ता है, देखता है और चाहता है कि यह सब बाधारहित होकर जैसा है वैसा का वैसा ही स्थिर रहे, यह कैसे संभव है ?

जैसे सराय में यात्री आते हैं और जाते हैं, वैसे ही पुत्र, स्त्री और भाई-बंधुओं से भी संयोग और वियोग होता रहता है अर्थात् परिवार में कोई नया सम्बन्धी आता है तो कोई पुराना सम्बन्धी बिछुड़ जाता है, मर जाता है। जिसको देखकर

अपनत्व के कारण, मोहवश, नशेबाज की भाँति उन्मत्त होकर प्राणी कभी रोता है तो कभी प्रसन्न होता है।

जिनेन्द्र के उपदेशरूपी किरण से अपने को पर से भिन्न पहचान ! हे जगत शिरोमणि ! हृदय से मोह की ऐसी जिज्ञासिता को दूर कर। दौलतराम भी ऐसा ही चाहते हैं कि उनका चित्त स्थिर हो।

अनिवार = जो टले नहीं। पैसे = प्रवेश करना।

(१०२)

ज्ञानी जीव निवार भरमतम. वस्तुस्वरूप विचारत ऐसैं॥ टेक॥

सुत तिय बंधु धनादि प्रगट पर, ये मुझतैं हैं भिन्नप्रदेशैं।
इनकी परनति है इन आश्रित, जो इन भाव परनवैं वैसे॥ १॥ ज्ञानी.॥

देह अचेतन चेतन मैं, इन परनति होय एकसी कैसैं।
पूरनगलन स्वभाव धरै तन, मैं अज अचल अमल नभ जैसैं॥ २॥ ज्ञानी.॥

पर परिनमन न इष्ट अनिष्ट न, वृथा रागरुष द्वंद्व भयेसैं।
नसै ज्ञान निज फसैं बंधमें, मुक्त होय समभाव लयेसैं॥ ३॥ ज्ञानी.॥

विषयचाहदवदाह नसै नहिं, विन निज सुधासिंधुमें पैसैं।
अब जिनवैन सुने श्रवननतैं, मिटे विभाव करूं विधि तैसैं॥ ४॥ ज्ञानी.॥

ऐसो अवसर कठिन पाय अब, निजहितहेत विलम्ब करेसैं।
पछताओ बहु होय सयाने चेतन, 'दौल' छुटो भव भैसैं॥ ५॥ ज्ञानी.॥

ज्ञानी जीव अपने सभी भ्रमरूपी अंधकार का, अनिश्चितता का नाशकर इस प्रकार वस्तु-स्वरूप का चिंतवन करते हैं कि पुत्र, स्त्री, बंधुजन, धन-संपत्ति आदि सब स्पष्टत: मुझसे भिन्न हैं, इनके व मेरे प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। उनका परिणमन उनका है और उनके ही आश्रित है, जैसे उनके भाव हैं उनका परिणमन भी वैसा ही है, उसी प्रकार का है। परन्तु मुझसे सर्वथा भिन्न है।

यह देह जड़-पुद्गल है और मैं चेतन; इनकी दोनों की परिणति एक-सी कैसे हो सकती है ? यह देह पुद्गल-जड़ है अत: इसका स्वभाव पुद्गल के अनुरूप अर्थात् गलना व पुरना ही है, जब कि मैं आकाश की भाँति अज- अजन्मा, शक्तिवाला, स्थिर, मलरहित व निर्मल हूँ।

पर का परिणमन मेरे लिए न किसी भाँति इष्ट है और न अनिष्ट ! अपितु राग-द्वेष के द्वन्द्व के कारण वह सर्वथा निरर्थक है जिसमें फँसने पर कर्मबंध होता

है और अपने ज्ञान की हानि होती है जबकि उनसे (राग-द्वेषमय पर-परिणति से) मुक्त होने पर समता-समभाव होता है अर्थात् मुक्ति मिलती है।

बिना अपने आत्मा की ओर गति किये, बिना आनंद-सागर में प्रवेश किये विषयों की चाहरूपी आग की तपन मिटती नहीं। अब श्री जिनेन्द्रदेव का उपदेश कानों से सुनकर ऐसी क्रिया करूँ कि जिससे विभाव मिट जावे।

ऐसा दुर्लभ अवसर बड़ी कठिनाई से जो मिला है, उसमें अपने ही हित के लिए यदि विलम्ब किया गया तो हे सयाने ! तुझे पछताना पड़ेगा। दौलतरामजी कहते हैं कि हे चेतन ! अब तुम भव-भय से छुटकारा पालो। अर्थात् भव-बंधन से मुक्त होवो।

भैसें = भय से।

(१०३)

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ,
ज्यौं शुक नभचाल विसरि नलिनी लटकायो ॥ अपनी ॥

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध।
तजि जड़-रस-फरस रूप, पुद्गल अपनायौ ॥ १ ॥ अपनी. ॥

इन्द्रियसुख दुखमें नित्त, पाग रागरुखमें चित्त।
दायकभवविपतिवृन्द, बन्धको बढ़ायौ ॥ २ ॥ अपनी. ॥

चाहदाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै।
समतासुधा न गाहै जिन, निकट जा बतायौ ॥ ३ ॥ अपनी. ॥

मानुषभव सुकुल पाय, जिनवरशासन लहाय।
'दौल' निजस्वभाव भज, अनादि जो न ध्यायौ ॥ ४ ॥ अपनी. ॥

हे प्राणी ! तू अपने आपको भूलकर, अपनी सुधि भूलकर आप (स्वयं) ही दु:ख को उत्पन्न करता है, दु:ख का कारण बनता है। जैसे आकाश में स्वच्छंद उड़ान भरनेवाला तोता रस्सीबँधी लकड़ी में उलझकर उल्टा लटक जाता है और अपने उड़ान भरने के स्वभाव को भूलकर स्वयं उल्टा लटका हुआ रस्सी-लकड़ी को पकड़कर समझता है कि रस्सी ने उसे पकड़ रखा है।

यह चेतन अविरुद्ध है, इसका किसी से विरोध नहीं, यह किसी से विरुद्ध नहीं, पूर्ण शुद्ध है, सम्यक्दर्शन व ज्ञान को धारण करनेवाला है। फिर भी यह अपना स्वभाव भूलकर, जड़रूप होकर स्पर्श-रस रूपमय पुद्गल को ही अपना मान रहा है।

यह जीव इंद्रिय सुख-दु:ख, जो संसार में दु:ख को उपजानेवाले हैं, उनको ही सब-कुछ समझकर, राग-द्वेष में रत होकर, डूबकर अपनी कर्मशृंखला को बढ़ा रहा है; निरंतन कर्म-बंध कर रहा है।

यह जीव चाह-इच्छाओं की आग में निरंतर दहक रहा है, तप रहा है, जल रहा है, फिर भी उन इच्छाओं को नहीं छोड़ता और समतारूपी अमृत के पान की चाहना करके भी जिनेन्द्र की भक्ति में अवगाह नहीं करता जबकि यह करना सरल है, सुगम है, तेरे योग्य है, निकट से तुझे बता दिया है, तुझे उपदेश दिया है।

हे जीव ! यह मनुष्यभव-श्रेष्ठकुल तुझे मिला है। तुझे जैन-शासन मिला है, धर्म-साधन का अवसर मिला है। दौलतराम कहते हैं कि तू अपने निजस्वरूप का चिंतन कर जो अनादि से तूने नहीं किया है।

नलिनी = यह तोता पकड़ने को एक चकरी होती है, इसमें रस्सी में एक चकरी पिरोई होती है, जब तोता उड़ता-उड़ता आकर उस पर बैठ जाता है तो चकरी स्वमेव घूमने लगती है जिसके कारण उस पर बैठा तोता भी घूम जाता है और उल्टा लटक जाता है, उस डोरी में अटककर फँस जाता है। गाहे - अवगाह करना, डूबना, स्नान करना।

(१०४)

जीव तू अनादिहीतैं भूल्यौ शिवगैलवा ॥ टेक ॥

मोहमदवार पियौ, स्वपद बिसार दियौ, पर अपनाय लियौ,
इन्द्रिसुखमें रचियौ, भवतैं न भियौ, न तजियौ मनमैलवा ॥ १ ॥ जीव. ॥

मिथ्या ज्ञान आचरन धरिकर कुमरन, तीन लोककी धरन,
तामें कियो है फिरन, पायो न शरन, न लहायौ सुखशैलवा ॥ २ ॥ जीव. ॥

अब नरभव पायौ, सुथल सुकुल आयौ, जिन उपदेश भायौ,
'दौल' झट छिटकायौ, परपरनति दुखदायिनी चुरलैवा ॥ ३ ॥ जीव. ॥

अरे जीव ! तू अनादिकाल से ही मोक्ष की गैल को, मोक्ष की राह को भूला हुआ है।

मोहरूपी शराब को पीकर अपने आपको भूल गया और पर की ओर आकर्षित होकर उसे ही अपना लिया, इंद्रिय-सुखों में रत हो गया, उनमें ही लगा रहा और इस प्रकार न तो तू भव-भ्रमण के दु:खों से डरा और न अपने मन के मैल को धो सका।

मिथ्यादर्शन-ज्ञान और चारित्र को धारणकर बार-बार दु:खजनित मृत्यु को पाता रहा और इस तीन लोक के भ्रमण में, इस भव-भ्रमण की जकड़न में उलझा हुआ बार-बार भटकता रहा अर्थात् बार-बार देह धारण करता रहा, जन्मता रहा। उसमें सुखरूपी शिखर तक पहुँचानेवाली, उच्चता को देनेवाली, कोई शरण नहीं गही, स्वीकार नहीं की।

हे भव्यजीव ! अब तुझे मनुष्य जन्म मिला है, अच्छा क्षेत्र-अच्छा कुल मिला है और जिनेन्द्र के उपदेश भी तुझे अच्छे लगने लगे हैं, सुहावने लगने लगे हैं तो दौलतराम कहते हैं कि अब तू पराश्रित, पर की परिणतिरूपी दु:खदायी चुड़ैल से बिना कोई विलम्ब किए छुटकारा पाले।

भियौ = भय, डर; धरण - पृथ्वी, गर्भाशय को बाँधकर रखनेवाली नस।

(१०५)

आपा नहिं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे॥ टेक॥

देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिवमगचारी रे॥ १॥ आपा.॥

निजनिवेदखिन घोर परीसह, विफल कही जिन सारी रे॥ २॥ आपा.॥

शिव चाहै तो द्विविधकर्मतैं, कर निजपरनति न्यारी रे॥ ३॥ आपा.॥

'दौलत' जिन निजभाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे॥ ४॥ आपा.॥

हे मनुष्य ! तू अपने आपको नहीं जान सका, अपना स्वरूप नहीं पहचान सका तो तू कैसा ज्ञानी है ?

देह से सम्बन्धित क्रियायें करके तू अपने आपको मोक्षमार्ग का राही - उस पर चलनेवाला मानता रहा अर्थात् देह के विषयों में रत रहकर भी तू अपने को साधु-वैरागी मानता रहा है !

अपने स्वरूप की पहचान, आराधन, भक्ति, बहुमान के बिना घोर दु:ख सहन करना, परीषह सहना, जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि ये तेरे किसी अर्थ के नहीं, सब विफल, फलरहित या उल्टा फल देनेवाले हैं।

हे मनुष्य ! यदि तुझे मोक्ष की चाह है तो निश्चय और व्यवहार से भेद-ज्ञान को समझ अर्थात् अपने व पर के क्रिया-कलापों को भिन्न-भिन्न, न्यारा-न्यारा, अलग-अलग जान व समझ।

दौलतराम कहते हैं कि जिन्होंने अपने स्वभाव को पहचान लिया है उन्होंने ही संसारभ्रमण की विपत्ति को दूर किया है, उससे छूट गये हैं।

निज निवेद - अपनी आराधना करना; द्विविध धर्म - निश्चय और व्यवहार धर्म।

(१०६)

शिवपुर की डगर समरससौं भरी, सो विषय विरसरचि चिरविसरी॥ टेक॥
सम्यकदरश बोध-व्रतमय भव, दुखदावानल-मेघझरी॥
ताहि न पाय तपाय देह बहु, जनममरन करि विपति भरी।
काल पाय जिनधुनि सुनि मैं जन, तातैं लहूं सोई धन्य घरी॥ १॥
ते जन धनि या मांहि चरत नित, तिन कीरति सुरपति उचरी॥
विषयचाह भवराह त्याग अब, 'दौल' हरो रजरहसअरी॥ २॥

मोक्ष का मार्ग समता रस से भरपूर है जिसमें विषय से भरा नीरस मार्ग सदा के लिए विसर जाता है, विस्मृत हो जाता है। यह मोक्षमार्ग सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र व व्रत से युक्त है जो संसार के दु:खरूपी दावानल के ऊपर मेघ की झड़ी के समान है।

इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्षमार्ग के अभाव में अब तक अनेक बार जनम-मरण किये, इस देह को भाँति-भाँति के तप करके तपाया और कष्ट सहे, अब काललब्धि के सुयोग से जिनेन्द्र की ध्वनि को सुनकर मैं धन्य हो गया। यह घड़ी धन्य है, शुभ है।

जिन्होंने इस मार्ग के अनुरूप आचरण किया वे सभी जन धन्य हैं। उनकी कीर्ति का बखान, यशगान इन्द्र आदि ने अपने मुख से किया है। दौलतराम कहते हैं कि संसार-भ्रमण की विषयों की चाहरूपी इस राह को छोड़कर अरि अर्थात् मोहनीय कर्म; रज अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म तथा रहस अर्थात् अंतराय कर्म - इस चतुष्टय का अब सर्वथा नाश करो।

अरि = शत्रु अर्थात् मोहनीय कर्म; रज = ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म; रहस = अन्तराय कर्म।

(१०७)

तोहि समझायो सौ सौ बार, जिया तोहि समझायो।
देख सुगुरुकी परहित में रति, हितउपदेश सुनायो॥ तोहि. ॥

विषयभुजंग सेय सुख मानो, दुखि तिनसौं लपटायो।
स्वपदविसार रच्यौ परपदमें, मदरत ज्यौं बोरायो॥ १ ॥ तोहि. ॥

तन धन स्वजन नहीं हैं तेरे, नाहक नेह लगायो।
क्यों न तजै भ्रम चाख समामृत, जो नित संतसुहायो॥ २ ॥ तोहि. ॥

अबहू समझ कठिन यह नरभव, जिन वृष बिना गमायो।
ते विलखैं मनि डार उदधिमें, 'दौलत' को पछतायो॥ ३ ॥ तोहि. ॥

अरे जिया ! तुझे सौ-सौ बार समझाया अर्थात् अनेक बार समझाया। देख-सुगुरु ने करुणाकर अन्य जनों का हित करने की रुचि के कारण हितकारी उपदेश दिया है।

अरे मन ! तू सर्प के विष के समान घातक इंद्रिय-विषयों का सेवन कर उन्हीं में बार-बार लिपटा रहा जिससे बहुत दु:ख पाए हैं अर्थात् इन्द्रिय-विषयों में ही सुख मानकर तू रमता रहा और अपने चिदानंदस्वरूप को भूलकर अन्य/परपद में शराबी की भाँति मत्त होकर डूबा रहा।

यह तन, यह कुटुम्बीजन तेरे नहीं हैं, तू इनमें व्यर्थ ही प्रीति-अपनापन बढ़ा रहा है। इस भ्रम को अब क्यों नहीं छोड़ता और संतजनों को सुहावना लगने-वाले समतारूपी अमृत का पान क्यों नहीं करता !

दौलतराम कहते हैं कि अब तो समझ कि मणि को समुद्र में फेंकने के बाद जैसे उसका मिलना दुर्लभ हो जाता है और फिर बिलख-बिलख पछताना पड़ता है, उसी भाँति यह मनुष्य-भव पाकर तू इसे जैनधर्म के बिना व्यर्थ ही गँवा रहा है, यह मनुष्य-भव मिलना फिर अत्यन्त कठिन है।

बोरायो = डूब रहा है; जिन-वृष = जैनधर्म; मद-रत = मद में डूबा हुआ।

(१०८)

न मानत यह जिय निपट अनारी, सिख देत सुगुरु हितकारी॥ टेक ।
कुमतिकुनारि संग रति मानत, सुमतिसुनारि बिसारी॥

नर परजाय सुरेश चहैं सो, चख विषविषय बिगारी।
त्याग अनाकुल ज्ञान चाह, पर-आकुलता विसतारी॥ १॥

अपना भूल आप समतानिधि, भवदुख भरत भिखारी।
परद्रव्यनकी परनतिको शठ, वृथा वनत करतारी॥ २॥

जिस कारज-दल जगत तहाँ, अभिलाष छटा घृत डारी।
दुखसौं डरै करै दुखकारनतैं नित प्रीति करारी॥ ३॥

अतिदुर्लभ जिनवैन श्रवनकरि, संशयमोह निवारी।
'दौल' स्वपर-हित-अहित जानके, होवहु शिवमग चारी॥ ४॥

अरे जिय ! सत्गुरु तुझे तेरा हित करनेवाली सीख-उपदेश देते हैं पर तू बिल्कुल अज्ञानी होकर उसे नहीं मानता, ग्रहण नहीं करता। सुमतिरूपी पत्नी का साथ छोड़कर तू कुमतिरूपी नारी के साथ रमण कर रहा है !

इन्द्र भी इस नर-पर्याय को पाने की कामना करते हैं जिसे तूने विषयों के वशीभूत होकर बिगाड़ दिया है। तूने आकुलता मिटानेवाले ज्ञान को छोड़कर पर की, पुद्गल की अभिलाषाकर आकुलता का विस्तार किया है।

तू अपने स्व-रूप को भूलकर, अपनी समतारूपी निधि को भूलकर स्वयं भिखारी बन गया है, तूने स्वयं ही अपने दुःखों के संसार का सृजन किया है। अर्थात् भिखारी की भाँति संसार के दुःखों को अपनी झोली में डाल लिया है ! पर-द्रव्य की क्रिया का तू स्वयं कर्ता बनने का निरर्थक/व्यर्थ प्रयास करता रहा है।

कषायों की जलती हुई आग में चाहरूपी/अभिलाषारूपी घी की आहुतियाँ डालता है। दुःख से डरता हुआ भी तू दुःख उपजाने की क्रियाओं से तीव्र प्रीति करता रहा है।

श्री जिनेन्द्र के संशय और मोह को दूर करनेवाले वचनों को सुनने का अवसर अति दुर्लभ है, यह अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होता है। दौलतराम कहते हैं कि तू अपने हित-अहित का विचार करके अब मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर उसके अनुकूल आचरण का निर्वाह कर अर्थात् संयमरूप चारित्र का पालन कर।

करारी = तीव्र, गाढ़ी।

(१०९)

हे नर, भ्रमनींद क्यों न छांडत दुखदाई।
सेवत चिरकाल सोंज, आपनी ठगाई॥ हे नर.॥
मूरख अघ कर्म कहा, भेदै नहिं मर्म लहा,
लागै दुखज्वालकी न, देहकै तताई॥ १॥ हे नर.॥
जमके रव बाजते, सुभैरव अति गाजते,
अनेक प्रान त्यागते, सुनै कहा न भाई॥ २॥ हे नर.॥
पर को अपनाय आप-रूपको भुलाय हाय,
करन विषय दारु जार, चाहदौं बढ़ाई॥ ३॥ हे नर.॥
अब सुन जिनवान, राग-द्वेषको जघान,
मोक्षरूप निज पिछान 'दौल', भज विरागताई॥ ४॥ हे नर.॥

हे मनुष्य - तू दु:ख देनेवाली भ्रम-भुलावे की नींद को क्यों नहीं त्यागता ? तू चिरकाल से, अनादिकाल से उन विचारों को रखे हुए है अर्थात् बनाए हुए है जिसमें तेरी अपनी ही ठगाई है, नुकसान है।

अरे मूर्ख, ये पाप-कर्म की कथा हैं जिनका तूने भेदन नहीं किया, जिनका मर्म नहीं जाना। इन दुखों की ज्वाला से देह नहीं तपती - आत्मा तपती है अर्थात् दु:ख की अनुभूति आत्मा को होती है, जो भावों के कारण होती है।

मृत्यु के आगमन के खूब बाजे बज रहे हैं, खूब शोर हो रहा है और बढ़ता जा रहा है, भैरव आदि की ध्वनियाँ गूँज रही हैं, अनेक लोग अपने प्राण त्याग रहे हैं, तू यह सब क्यों नहीं सुन रहा - क्यों नहीं जान रहा अर्थात् तू मौत की आहट क्यों नहीं सुनता ?

पर को अपनाकर तू अपना स्वरूप भूल बैठा है और दारुण विषयों से ही प्रीति/मित्रता/याराना कर रहा है जिससे तृष्णा बढ़ती जाती है।

दौलतराम कहते हैं - अब तू जिनवाणी को सुन, उसे हृदय में धारण कर। राग-द्वेष की जघन्यता जानकर अब मोक्षस्वरूप अपने आपको पहचान और वैराग्य की आराधना कर - वैराग्य धारण कर।

जघान - जघन्य, निम्न, त्याज्य; सोंज - सोज - विचार।

(११०)

अरे जिया, जग धोखेकी टाटी॥ टेक॥

झूठा उद्यम लोक करत है, जिसमें निशदिन घाटी॥ १॥ अरे॥

जान बूझके अन्ध बने हैं, आंखन बांधी पाटी॥ २॥ अरे.॥

निकल जायंगे प्राण छिनकमें, पड़ी रहैगी माटी॥ ३॥ अरे.॥

'दौलतराम' समझ मन अपने, दिलकी खोल कपाटी॥ ४॥ अरे.॥

अरे जिया - यह जगत धोखे की टाटी है, धोखे से निर्मित दीवार/आड़ है।

इस जगत में लोग लौकिक श्रम करते हैं जो सर्वथा झूठा है, मिथ्या है, वह आत्मकल्याण हेतु उपयोगी नहीं है। उसमें सदैव, दिन-प्रतिदिन घाटा ही घाटा है अर्थात् हानि है।

सब इस तथ्य को जानकर भी आँखों के आगे पट्टी बाँधने के समान अंधे बने हुए हैं अर्थात् जगत के धोखे को नहीं समझते।

इस शरीर से प्राण एक क्षण में निकल जाएँगे, छूट जाएँगे, फिर यह मृत शरीर माटी की तरह पड़ा रह जाएगा।

दौलतराम कहते हैं कि हे मन ! तू यह सब-कुछ समझकर मन के दरवाजे खोल और कर्मबंधन से मुक्त हो जा।

(१११)

हम तो कबहूँ न हित उपजाये।
सुकुल-सुदेव-सुगुरु सुसंग हित, कारन पाय गमाये!॥हम तो.॥

ज्यों शिशु नाचत, आप न माचत, लखनहार बौराये।
त्यों श्रुत वांचत आप न राचत, औरनको समुझाये॥१॥हम तो.॥

सुजस-लाहकी चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरखाये।
विषय तजे न रजे निज पदमें, परपद अपद लुभाये॥२॥हम तो.॥

पापत्याग जिन-जाप न कीन्हौं, सुमनचाप-तप ताये।
चेतन तनको कहत भिन्न पर, देह सनेही थाये॥३॥हम तो.॥

यह चिर भूल भई हमरी अब कहा होत पछताये।
'दौल' अजौं भवभोग रचौ मत, यौं गुरु वचन सुनाये॥४॥हम तो.॥

हमने कभी अपने हित का कार्य नहीं किया। हितकारी अच्छे कुल को पाया, श्रेष्ठ देव व गुरु का अच्छा साथ भी मिला पर ये सब पाकर खो दिये।

जैसे कोई बालक नाचता है, वह बालक स्वयं अपने नाच पर गर्व नहीं करता पर देखनेवाले उन्मत्त हो जाते हैं, वैसे ही हम शास्त्रों का वाचन करते हैं, पढ़ते हैं परन्तु उसके अनुरूप आचरण नहीं करते और केवल दूसरों को ही समझाते हैं, उपदेश देते हैं।

अपने सुयश की, लाभ की, अपनी बड़ाई की कामना-लालसा नहीं छोड़ते। सर्वत्र अपनी प्रशंसा और मान चाहते हैं। ऐसा होने पर प्रसन्न होते हैं। हम विषय-भोगों को नहीं छोड़ते न कभी अपने स्वरूप में लीन होते। स्वरूपचिंतवन नहीं करते और ग्रहण नहीं करने योग्य पर-पद में रीझते हैं, मोहित होते हैं।

कभी पाप क्रियाओं का त्याग नहीं किया, जिनेन्द्र के गुणों का जाप नहीं किया, उनका स्मरण-मनन नहीं किया। बस, कामरूपी अग्नि की तपन में दहकते

रहे हैं। कहने को तो कहते रहे हैं कि ये चेतन देह से भिन्न है, पर सदैव हृदय से – आचरण से देह पर ही ममत्व करते रहे हैं।

अनादिकाल से हमारी यही भूल हो रही है, अब पछताने से क्या लाभ! दौलतराम कहते हैं कि गुरु की वाणी सुनो और अब आगे भवभोगों में रत मत होओ।

माचत = गर्व करना; लाह = लाभ; सुमन चाप = कामदेव की आहट, धनुष; रजे = रचे।

(११२)

हम तो कबहुँ न निजगुन भाये।
तन निज मान जान तनदुखसुख में बिलखे हरखाये॥ हम तो.॥

तनको गरन मरन लखि तनको, धरन मान हम जाये।
या भ्रम भौंर परे भवजल चिर, चहुंगति विपत लहाये॥ १॥ हम तो.॥

दरशबोधव्रतसुधा न चाख्यौ, विविध विषय-विष खाये।
सुगुरु दयाल सीख दइ पुनि पुनि, सुनि सुनि उर नहि लाये॥ २॥ हम तो.॥

बहिरातमता तजी न अन्तर-दृष्टि न ह्वै निज ध्याये।
धाम-काम-धन-रामाकी नित, आश-हुताश जलाये॥ ३॥ हम तो.॥

अचल अनूप शुद्ध चिद्रूपी, सब सुखमय मुनि गाये।
'दौल' चिदानंद स्वगुन मगन जे, ते जिय सुरिझरा थाये॥ ४॥ हम तो.॥

अरे ! हमने कभी भी अपने गुणों का चिन्तन नहीं किया, उनकी भावना नहीं की। इस तन को अपना मानकर, अपना जानकर हम इस तन के दुःख व सुख में ही रोते बिलखते, हँसते-मदमाते रहे।

यह तन पुद्गल का है, इस कारण गलना इसका स्वभाव है, इस तन का मरण हमने देखा है, इसे धारण करने को हमने जन्म होना समझा है ! इस धारणा को ही हम उचित ठहराते रहे और इस संसार-समुद्र में अनादि काल से पड़े भ्रम के भँवर में हम चारों गतियों की विपदाओं को भोगते रहे हैं।

दर्शन, ज्ञान और व्रत रूपी अमृत को हमने नहीं चखा, भाँति-भाँति के विषयों के विष का आस्वादन करते रहे। सत्गुरु ने बार-बार में उपदेश दिया, शिक्षा दी, जिसे सुन-सुनकर भी हमने हृदय से उसे नहीं स्वीकारा, विचार नहीं किया !

बहिरात्मता अर्थात् संसार की ओर उन्मुखता को, आकर्षण को नहीं छोड़ा और आत्मा की ओर मुड़कर हमने अपने स्वरूप का चिंतवन नहीं किया। घर,

काम-इच्छाएँ, धन और स्त्री इन ही की आशारूपी आग में अपने आपको नित्य-प्रति जलाते रहे।

यह आत्मा अचल है, स्थिर है, अनूप है, निराला है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, यह सब सुखमय है - मुनिजन ऐसा ही गाते हैं। दौलतराम कहते हैं कि जो अपने गुणों में मगन होकर चैतन्यस्वरूप के आनंद का ध्यान करते हैं वे जीव सुखी होते हैं, सुख पाते हैं।

गरन = गलना; धरन = धारना।

(११३)

हम तो कबहुँ न निज घर आये।
परघर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये॥ हम तो.॥

परपद निजपद मानि मगन ह्वै, परपरनति लपटाये।
शुद्ध बुद्ध सुख कन्द मनोहर, चेतन भाव न भाये॥ १॥ हम तो.॥

नर पशु देव नरक निज जान्यो, परजय बुद्धि लहाये।
अमल अखण्ड अतुल अविनाशी, आतमगुन नहिं गाये॥ २॥ हम तो.॥

यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताये।
'दौल' तजौ अजहूं विषयनको, सतगुरु वचन सुनाये॥ ३॥ हम तो.॥

हम अपने घर में कभी नहीं आए अर्थात् आत्मारूपी घर में आकर नहीं ठहरे, उसे नहीं सँभाला। दूसरों के घर घूमते हुए बहुत काल बीत गया और अनेक नाम रखकर उन नामों से जाने-पहचाने जाते रहे अर्थात् बार-बार पुद्गल देह धारण कर, अनेक नाम से अनेक पर्यायों में जाने जाते रहे।

पर-पद अर्थात् देह को ही अपना समझकर उसमें ही मगन होते रहे और उसकी ही विभिन्न स्थितियों में लिपटते रहे। शुद्ध, ज्ञानवान, सुख के पिंड अपने चैतन्यस्वरूप की कभी भावना नहीं की, चिंतन नहीं किया, विचार नहीं किया।

पर्याय अर्थात् क्षणिक स्थिति को स्थिर मानकर चारों गति - मनुष्य, तिर्यंच, देव व नारकी को ही अपना जानता रहा। यह आत्मा मलरहित - अमल है, खंडरहित - अखंड है, तुलनारहित - अतुलनीय है, विनाशरहित - अविनाशी है, इन गुणों को नहीं पहचाना, न इनका चिंतन किया।

यह हमारी बहुत बड़ी भूल थी पर अब पछताने से कोई कार्य सिद्ध होनेवाला नहीं है। दौलतराम कहते हैं कि सत्गुरु ने जो उपदेश/वचन सुनाये हैं उनको सुनकर अभी से, आज से इन विषय-भोगों को छोड़ दे।

हे हितवांछक प्रानी रे, कर यह रीति सयानी॥ टेक॥
श्रीजिनचरन चितार धार गुन, परम विराग विज्ञानी॥

हरन भयामय स्वपरदयामय, सरधौ वृष सुखदानी।
दुविध उपाधि बाध शिवसाधक, सुगुरु भजौ गुणथानी॥ १॥

मोह-तिमिर-हर मिहर भजो श्रुत, स्यात्पद जास निशानी।
सप्ततत्त्व नव अर्थ विचारह, जो वरनै जिनवानी॥ २॥

निज पर भिन्न पिछान मान पुनि, होहु आप सरधानी।
जो इनको विशेष जानन सो, ज्ञायकता मुनि मानी॥ ३॥

फिर व्रत समिति गुपति सजि अरु तजि, प्रकृति शुभास्रवदानी।
शुद्ध स्वरूपाचरन लीन है, 'दौल' वरौ शिवरानी॥ ४॥

हे अपना हित चाहनेवाले, तू इस रीति का पालन कर श्री जिनेन्द्र के चरणों का चिंतवन कर और उनके गुणों को धारण कर - यह ही श्रेष्ठ व युक्तियुक्त रीति है।

भयरूपी रोग को दूर करनेवाले, स्व और अन्य पर दया करनेवाले, सुख को देनेवाले धर्म पर श्रद्धान कर। हे मोक्ष के साधक, पाप और पुण्य दोनों ही मोक्षमार्ग में बाधक हैं। वे सत्गुरु ही गुण के भण्डार हैं, स्थान हैं, उनका ही भजन कर।

मोहरूपी अंधकार को हरनेवाले उस शास्त्ररूपी सूर्य का भजन कर जिसका चिह्न स्याद्वाद शैली है। सात तत्व और नव पदार्थ, जिनका श्री जिनवानी में वर्णन है, का चिंतवन करो।

स्व और पर दोनों को अलग-अलग पहचानकर फिर अपने स्वरूप का श्रद्धान करो। जो इनका विशेष ज्ञान प्राप्त करते हैं उनकी ज्ञायकता को मुनिजन मानते हैं।

तत्पश्चात् व्रत, समिति, गुप्ति से अपने आपको सजाकर शुभास्रव की क्रियाएँ भी छोड़ दो। दौलतराम कहते हैं कि अपने शुद्धस्वरूप-चिंतन में लीन होकर मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करो, संसार से मुक्त हो जावो।

(११५)

विषयोंदा मद भानै, ऐसा है कोई वे ॥ टेक ॥

विषय दुःख अर दुखफल तिनको, यौं नित चित्त न ठानै ॥ १ ॥
अनुपयोग उपयोग स्वरूपी, तनचेतनको मानै ॥ २ ॥
वरनादिक रागादि भावतैं, भिन्न रूप तिन जानैं ॥ ३ ॥
स्वपर जान रुषराग हान, निजमें निज परनति सानै ॥ ४ ॥
अन्तर बाहरको परिग्रह तजि, 'दौल' वसै शिवथानै ॥ ५ ॥

विषयों का मद कैसा होता है ? अरे, ऐसा जाननेवाला कोई है ! विषय स्वयं दुख हैं और उनके फल भी दुखकारी हैं, जो उन विषयों का अपने चित्त में विचार भी नहीं करता (अर्थात् जिसकी दृष्टि आत्मीय सुख पर ही है) - ऐसा (जाननेवाला) कोई है !

यह तन अनुपयोगी है, चेतन उपयोगस्वरूपी है। जो तन और चेतन के इस प्रकार के भेद को जानता है - ऐसा (जाननेवाला) कोई है !

जो जानता है कि वर्णादिक व रागादिक से वह भिन्न है - ऐसा (जाननेवाला) कोई है !

जो स्व और पर को भेदज्ञान से अलग-अलग जानकर राग-द्वेष का नाश करता है और अपने आप में मगन हो जाता है, अर्थात् स्वरूप-चिंतन में लीन हो जाता है - ऐसा (जाननेवाला) कोई है !

दौलतराम कहते हैं कि जो ऐसा जाननेवाला है वह बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के सब परिग्रह को छोड़कर मोक्ष में निवास करता है अर्थात् परिग्रह का सर्वांग त्याग ही मोक्ष है।

(११६)

कुमति कुनारि नहीं है भली रे, सुमति नारि सुन्दर गुनवाली॥ टेक॥

वासौं विरचि रचौ नित यासौं, जो पावो शिवधाम गली रे।
वह कुवजा दुखदा, यह राधा, बाधा टारन करन रली रे॥ १॥

वह कारी परसौं रति ठानत, मानत नाहिं न सीख भली रे।
यह गोरी चिदगुण सहचारिनि, रमत सदा स्वसमाधि - थली रे॥ २॥

वा संग कुथल कुयोनि वस्यौ नित, तहां महादुखबेल फली रे।
या संग रसिक भविनकी निजमें, परिनति 'दौल' भई न चली रे॥ ३॥

संसार में एक ओर कुमतिरूपी स्त्री है जो अच्छी नहीं है तो दूसरी सुमतिरूपी सुंदर गुणवाली स्त्री है।

उससे (कुमति से) विरक्त होवो और इससे (सुमति से) नित्य-प्रति प्रीति करो तो तुम्हें मोक्ष की राह मिल जायेगी।

वह (कुमति) कुबड़ी है, दु:ख देनेवाली है और यह (सुमति) प्रेयसी, प्रिया सब दु:खों को दूर करने का कार्य करने में रत है।

वह (कुमति) काली है, दूसरों से प्रीत रखनेवाली है, उसको समझाने पर भी वह नहीं समझती और यह (सुमति) सुंदरी, चैतन्य गुणों के साथ अनुगमन करनेवाली, स्व-स्थान में, समाधि में रमण करती है।

उसका साहचर्य/साथ खोटे स्थान में, कुयोनियों में उत्पन्न करानेवाला है, जहाँ दारुण दु:ख की बेल निपजती है और इसका (सुमति का) साथ भव्य रसिकजनों की अपने में ही अचल परिणति कराता है जो फिर कभी चलायमान नहीं होती - ऐसा दौलतराम कहते हैं।

कु-मति = बुरी बुद्धि; सुमति - अच्छी बुद्धि। यहाँ कुमति और सुमति को स्त्री के रूप में मानकर उनका स्वरूप समझाया गया है।

(११७)

घड़ि-घड़ि पल-पल छिन-छिन निशदिन, प्रभुजीका सुमिरन करले रे ॥
प्रभु सुमिरेतैं पाप कटत हैं, जनममरनदुख हरले रे॥ १ ॥ घड़ि.॥
मनवचकाय लगाय चरन चित, ज्ञान हिये विच धर ले रे॥ २ ॥ घड़ि.॥
'दौलतराम' धर्मनौका चढ़ि, भवसागर तैं तिर ले रे॥ ३ ॥ घड़ि.॥

हे मनुष्य ! प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक पल और प्रतिक्षण अर्थात् निरंतर और नित्यप्रति तू प्रभु का स्मरण कर; उनके गुणों का चिंतवन कर।

प्रभु के स्मरण से, उनके गुणों के स्मरण से पापों का नाश होता है, जन्म-मरण के दुःख दूर होते हैं।

मन और वचन और कायसहित प्रभु के चरणों में चित्त लगाकर, ज्ञानस्वरूप को हृदय में धारण करो।

दौलतराम कहते हैं कि धर्मरूपी नौका पर चढ़कर तू इस भव-सागर, संसार-समुद्र के पार हो जा।

(११८)

जम आन अचानक दावैगा ॥ टेक ॥
छिनछिन कटत घटत थित ज्यौं जल, अंजुलिको झर जावैगा।
जन्म तालतरुतैं पर जियफल, कोंलग बीच रहावैगा।
क्यौं न विचार करै नर आखिर, मरन महीमें आवैगा ॥ १ ॥
सोवत मृत जागत जीवत ही, श्वासा जो थिर थावैगा।
जैसैं कोऊ छिपै सदासौं, कबहूं अवशि पलावैगा ॥ २ ॥
कहूं कबहूं कैसें हू कोऊ, अंतकसे न बचावैगा।
सम्यकज्ञानपियूष पिये सौं, 'दौल' अमरपद पावैगा ॥ ३ ॥

हे प्राणी/मानव ! यमराज अचानक आकर दबोच लेगा। जैसे अंजुलि के जल में से बूँद-बूँद झरकर सारा जल समाप्त हो जाता है वैसे ही एक-एक क्षण के बीतते हुए इस जीवन की स्थिति घटती जाती है।

हे जीव ! ताड़ के वृक्ष पर जन्मे हुए फल की भाँति तेरी (अर्थात् इस जीव की) स्थिति है। विचार कर कि वह ऊपर से गिरते हुए बीच में कितना समय व्यतीत करेगा ! अन्ततः भूमि पर आकर गिरेगा ही। उसी प्रकार तेरा मरण निश्चित है, तू क्यों नहीं इस प्रकार विचार करता !

जो सोता है वह मरे हुए के समान है, जो जागता है वह जीता है/जीवित है। वह इस चलायमान श्वास को स्थिर कर लेगा अर्थात् समाधि धारण कर लेगा तो भी देह को त्यागना ही होगा। हमेशा छुपा रहनेवाला भी आखिर कब तक छुपा रहेगा, कभी तो प्रकट होगा ही होगा।

कोई भी, कहीं भी, कब भी और कैसे भी मृत्यु से बचा नहीं सकेगा। दौलतराम कहते हैं कि सम्यक्ज्ञानरूपी अमृत के पीने से ही तू अमरपद अर्थात् मोक्ष-पद पावेगा।

पलावेगा - प्रकट होगा, भागेगा।

(११९)

तू काहेको करत रति तनमें, यह अहितमूल जिम कारासदन॥ टेक॥
चरमपिहित पलरुधिरलिप्त मल, - द्वार स्रवै छिन छिन में॥ १॥
आयु-निगड फंसि विपति भरै, सो क्यों न चितारत मनमें॥ २॥
सुचरन लाग त्याग अब याको, जो न भ्रमै भववनमें॥ ३॥
'दौल' देहसों नेह देहको, - हेतु कह्यौ ग्रन्थनमें॥ ४॥

हे जीव ! तू तेरी इस काया से प्रीति/अनुराग क्यों करता है ? यह काया ही तो तेरे अहित की जड़ है, अहित का कारण है, यह एक जेल के समान है।

ऊपर चमड़े से ढकी हुई, भीतर मांस, रक्त और मल से सनी/लिपटी हुई इस देह के द्वारों से अर्थात् कान-आँख-नाक, मुँह-गुदा और गुप्तेन्द्रिय से प्रत्येक क्षण मैल झरता है/निकलता रहता है।

तू मन में यह क्यों नहीं विचार करता है कि तू आयु कर्म की बेड़ी में जकड़ा हुआ है, जो दुःखों से भरी हुई है।

अब अच्छे आचरण अर्थात् सम्यक्चारित्र का पालन करके इस आयु को इस प्रकार पूर्ण कर, देह को इस प्रकार त्याग जिससे पुनः संसार में भव-भ्रमण न करना पड़े।

दौलतराम कहते हैं कि सभी ग्रंथों में इस देह में राग करने को ही नवीन देह की उत्पत्ति का कारण बताया गया है।

चरमपिहित - चमड़े से ढका हुआ; पल = मांस; निगड़ - बेड़ी।

निपट अयाना, तैं आपा नहीं जाना, नाहक भरम भुलाना बे॥ टेक॥
पीय अनादि मोहमद मोह्यो, परपदमें निज माना बे॥
चेतन चिह्न भिन्न जड़तासों ज्ञानदरशरस-साना बे।
तनमें छिप्यो लिप्यो न तदपि ज्यों, जलमें कजदल माना बे॥ २॥
सकलभाव निज निज परनतिमय, कोई न होय बिराना बे।
तू दुखिया परकृत्य मानि ज्यौं, नभताड़न-श्रम ठाना बे॥ ३॥
अजगनमें हरि भूल अपनपो, भयो दीन हैराना बे।
'दौल' सुगुरुधुनि सुनि निजमें निज, पाय लह्यो सुखथाना बे॥ ४॥

हे निपट अज्ञानी जीव! तूने अपने स्वरूप को नहीं जाना इसलिए व्यर्थ में ही भ्रम के कारण तू अपने आपको भूला हुआ है/भुला रहा है। अनादिकाल से मोहरूपी शराब को पीकर तू मद में - नशे में बहक रहा है और पर में/अन्य में अर्थात् पुद्गल देह में ही अपनापन मान रहा है।

तू चेतन है, जड़ता से - पुद्गल से भिन्न है। तू दर्शन और ज्ञान स्वभाववाला है, उनसे युक्त है। तू देह में रहता है, देह में छिपा हुआ है, परन्तु तू देहस्वरूप नहीं है। जैसे जल में कमलपत्र अलग रहता है, वैसे ही तू देह में लिप्त नहीं है, देह से भिन्न है।

सारे भावों की परिणति अपनी-अपनी है; कोई भी भाव अन्य द्रव्य का नहीं होता। किंतु तू पर की क्रिया को अपना समझकर आकाश को पीटने के समान निरर्थक ही परिश्रम कर रहा है।

बकरियों के झुंड में रहता हुआ सिंह अपने आपको, अपने स्वभाव को भूलकर बकरी के समान दीन होकर हैरान हो रहा है। दौलतराम कहते हैं जिसने सत्गुरु की ध्वनि सुनकर निज-स्वरूप में ही निज को पा लिया, उन्हें सुख-स्थान की प्राप्ति हुई है।

नभ-ताड़न = आकाश को पीटा नहीं जा सकता, पर कोई लकड़ी घुमाकर नभ/आकाश को पीटना चाहे तो यह उसका व्यर्थ का श्रम होगा। अज-गन = बकरियों का समूह।

(१२१)

निजहितकारज करना भाई! निजहित कारज करना॥ टेक॥
जनममरन दुख पावत जातैं, सो विधिबंध कतरना।
ज्ञानदरस अर राग फरस रस, निजपर चिह्न भ्रमरना।
संधिभेद बुधिछैनीतैं कर, निज गहि उर परिहरना॥ १॥ निज.॥
परिग्रही अपराधी शंकै, त्यागी अभय विचरना।
त्यौं परचाह बंध दुखदायक, त्यागत सबसुख भरना॥ २॥ निज.॥
जो भवभ्रमन न चाहे तो अब, सुगुरुसीख उर धरना।
'दौलत' स्वरस सुधारस चाखो, ज्यौं विनसै भवभरना॥ ३॥ निज.॥

अरे भाई। तू वह कार्य कर जो तेरे निज के हित का हो। जिससे तुझे जन्म-मरण के दुःख प्राप्त होते हैं, मिलते हैं उस कर्मबंध को, उस शृंखला को काट दो, कतर दो।

दर्शन-ज्ञान निज के और राग-स्पर्श-रस आदि पर के/पुद्गल के चिह्न हैं, इसका निरंतर स्मरण रखना। दोनों में मिलावट प्रतीत होती है, उसे ज्ञानरूपी छैनी से भेदकर निज को ग्रहण करो और पर को, पुद्गल को छोड़ दो।

जो परिग्रही है, जो पर का ग्राहक है, चोर है, वह अपराधी की भाँति सदैव शंकित रहता है और जो पर का त्याग कर देता है वह निर्भय होकर विचरण करता है। इसी प्रकार पर की कामना, तृष्णा कर्म बंध करनेवाली व दुःख को देनेवाली है, पर को छोड़ने से निज सुख की प्राप्ति होती है।

जो तू संसार भ्रमण से छूटना चाहता है तो सत्गुरु के उपदेश को हृदय में धारण करना। दौलतराम कहते हैं कि अपनी ज्ञानसुधारस का, ज्ञानरूपी अमृत का पान करो जिससे संसार में मृत्यु का विनाश होवे अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा मिले।

(१२२)

मनवचतन करि शुद्ध भजो जिन, दाव भला पाया।
अवसर मिलै नहिं ऐसा, यौं सतगुरु गाया॥

वस्यो अनादिनिगोद निकसि फिर, थावर देह धरी।
काल असंख्य अकाज गमायो, नेक न समुझि परी॥१॥

चिंतामनि दुर्लभ लहिये ज्यौं, त्रसपर-जाय लही।
लट पिपिल अलि आदि जन्ममें, लह्यो न ज्ञान कहीं॥२॥

पंचेन्द्रिय पशु भयो कष्टतैं, तहां न बोध लह्यो।
स्वपर विवेकगहित बिन संयम, निशदिन भार वह्यो॥३॥

चौपथ चलत रतन लहिये ज्यौं, मनुजदेह पाई।
सुकुल जैनवृष सतसंगति यह, अतिदुर्लभ भाई॥४॥

यौं दुर्लभ नरदेह कुधी जे, विषयनसंग खोवैं।
ते नर मूढ अजान सुधारस, पाय पांव धोवैं॥५॥

दुर्लभ नरभव पाय सुधी जे, जैन धर्म सेवैं।
'दौलत' ते अनंत अविनाशी, सुख शिवका वेवैं॥६॥

हे मानव ! मन, वचन और काय से श्री जिनेन्द्र का भजन करो, मनुष्यभव का यह अच्छा अवसर मिला है। सत्गुरु कहते हैं कि ऐसा सु-अवसर फिर सहजतया नहीं मिलेगा।

हे जीव ! तू अनादि काल तक निगोद पर्याय में रहा, फिर वहाँ से निकल कर स्थावर पर्याय में देह धारण की। इस प्रकार बिना किसी आत्मलाभ के असंख्यात काल व्यतीत किया और अपने भले की बात ही नहीं समझ सका।

जिस प्रकार चिंतामणि रत्न दुर्लभ है, उसे पाना कठिन है उसी प्रकार बड़ी कठिनाई से त्रस पर्याय मिली और जिसमें लट, पिपिल, भौंरा आदि रूप में जन्म लिया, देह धारण की, परन्तु कहीं भी ज्ञान नहीं हुआ।

फिर बहुत से कष्ट सहने के पश्चात् पंचेन्द्रिय तिर्यंच हुआ, वहाँ भी ज्ञान नहीं मिला, न अपने और पराये का बोध हुआ, न संयम धारण किया और नित्यप्रति कर्मों का बोझ ढोता रहा।

चौराहे में भटकते हुए को जैसे कोई रत्न की प्राप्ति हो जाए उसी प्रकार चारों गतियों में भटकते हुए जीव को यह मनुष्य जन्म मिला, यह मनुष्य देह मिली, अच्छा कुल, जैनधर्म और धर्मात्माजनों का साथ मिला जो सब बहुत मुश्किल से मिलते हैं।

ऐसी दुर्लभ, कठिनाई से प्राप्त होनेवाली मनुष्य देह को पाकर अरे मूर्ख ! तू इसे इंद्रिय-विषयों व परिग्रह को संचय करने में गँवा रहा है, तो यह वैसा ही है जैसे कोई अमृत को पाकर उसका पान न करके उससे अपने पाँवों को ही धोये।

जिनको अपनी सुधि है, ध्यान है, वे नरभव पाकर/मनुष्य जन्म पाकर जैनधर्म का पालन करते हैं, दौलतराम कहते हैं कि वे अनंत-अविनाशी पद पाकर मोक्ष-सुख का लाभ पाते हैं।

दाव = अवसर; कुधी = मूर्ख।

(१२३)

मोहिड़ा रे जिय ! हितकारी न सीख सम्हारै।
भवतन भ्रमत दुखी लखि याको, गुरुदयालु उचारै॥ मोहिड़ा.॥

विषय भुजंगम संग न छोड़त, जो अनन्तभव मारै।
ज्ञान विराग पियूष न पीवत, जो भवव्याधि विडारै॥ १॥ मोहिड़ा.॥

जाके संग दुरैं अपने गुन, शिवपद अन्तर पारै।
ता तनको अपनाय आप चिन,-मूरतको न निहारै॥ २॥ मोहिड़ा.॥

सुत दारा धन काज साज अघ, आपन काज विगारै।
करत आपको अहित आपकर, ले कृपान जल दारै॥ ३॥ मोहिड़ा॥

सही निगोद नरककी वेदन, वे दिन नाहिं चितारै।
'दौल' गई सो गई अबहू नर, धर दृग-चरन सम्हारै॥ ४॥ मोहिड़ा.॥

संसार में भ्रमण करते हुए दुःखी जीव को देखकर दयालु सुगुरु हितकारी उपदेश देते हुए समझाते हैं - हे मोही जीव ! तू तेरे हित की सीख को, उपदेश को क्यों नहीं मानता !

विषय-भोगरूपी भयानक नाग का तू साथ नहीं छोड़ता, जो अनन्त काल तक तुझे भव-भ्रमण कराकर मारता है, पीड़ा पहुँचाता है। संसार से वैराग्य और ज्ञानरूपी अमृत का तू पान क्यों नहीं करता जो तुझे भव-भ्रमण की व्याधि से छुड़ा ले, छुटकारा दिला दे।

जिसके साथ रहने से अपने सभी गुण दूर हो जाते हैं, छुप जाते हैं और मुक्ति अर्थात् मोक्ष उतना ही दूर हो जाता है, ऐसे तन को तो तू अपना रहा है और अपने चिदानन्द चिन्मयस्वरूप की ओर नहीं देखता !

पुत्र, स्त्री, धन, उनके कार्य व सज्जा, पाप ये सब अपना कार्य बिगाड़ते हैं; इस प्रकार तू स्वयं ही अपने आपका अहित करता है और हाथ में तलवार लेकर जल/पानी को काटने के समान निरर्थक श्रम करता है।

तूने नरक निगोद पर्याय की जो वेदना भोगी सहन की, उन दिनों को तू भूल गया है अब उनका स्मरण नहीं करता, दौलतराम कहते हैं कि जो बीत गई जो बीत गई, हे मनुष्य। अब तू अपने दर्शन और चारित्र की सम्यक् सँभाल कर।

(१२४)

सौ सौ बार हटक नहिं मानी, नेक तोहि समझायो रे॥ टेक॥
देख सुगुरुकी परहित में रति, हितउपदेश सुनायो रे॥
विषयभुजंगसेय दुखपायो, फुनि तिनसों लपटायो रे।
स्वपदविसार रच्यो परपदमें, मदरत ज्यों बोरायो रे॥ १॥
तन धन स्वजन नहीं है तेरे, नाहक नेह लगायो रे।
क्यों न तजै भ्रम चाख समामृत, जो नित संतसुहायो रे ॥ २॥
अब हू समझ कठिन यह नरभव, जिनवृष बिना गमायो रे।
ते विलखैं मणिडार उदधिमें, 'दौलत' को पछतायो रे॥ ३॥

अरे प्राणी ! तुझे अनेक बार समझाया, पर तू बार-बार मना करने पर भी नहीं मानता। देख, सत्गुरु को पर-कल्याण की भावना में रुचि है इस कारण तुझे तेरे हित का उपदेश दिया है।

विषयभोगरूपी नाग की तूने सेवा की है अर्थात् नाग-सरीखे विषैले विषयों में तू लगा रहा है और अब भी बार-बार उन्हीं में रत है। अपने मूल स्वरूप को भूल करके तू पर में आसक्त होकर शराबी की भाँति नशे में बहक रहा है।

यह तन, ये स्वजन कुछ भी तेरे नहीं हैं, तू व्यर्थ ही में इनसे मोह किए हुए है। इस मोह के भ्रम को छोड़कर तू संतजनों को सुहावना लगनेवाला आत्म-हितकारी उपदेशरूपी अमृत का पान क्यों नहीं करता !

अब भी समझ ले ! यह मनुष्य भव अत्यंत दुर्लभ है। इसे तूने धर्म-साधन के बिना यूँ ही गँवा दिया और अब भी गँवा रहा है। दौलतराम कहते हैं कि जैसे समुद्र में मणि-रत्न को डालकर फिर उसे पाने के लिए बिलख-बिलखकर, दु:खी होकर पछताना ही पड़ता है, उसी प्रकार तू भी पछतायेगा।

हटक = वर्जन, मना करना।

परिशिष्ट

भजन अनुक्रमणिका

		भजन	क्रम संख्या	पृष्ठ संख्या
अ	१.	अब मोहि जान परी	३९	५४
	२.	अपनी सुधि भूलि आप, आप दुःख उपायो	१०३	१५४
	३.	अरि रज रहस हनन प्रभु अर्हन	२	५
	४.	अरे जिया जग धोगे की टाटी	११०	१६३
	५.	अहो नेमि जिनप	६०	८९
आ	६.	आज गिरिराज विहार, धन भाग हमारा	८७	१२९
	७.	आज मैं परम पदारथ पायो	८	१३
	८.	आतम रूप अनुपम अद्‌भुत	७४	११०
	९.	आप भ्रम विनाश आप-आप जान पायो	७६	११३
	१०.	आपा नहीं जाना तूने कैसा ज्ञानधारी रे	१०५	१५७
उ	११.	उरग-सुरग-नर ईश शीश	२५	३५
ऐ	१२.	ऐसा मोही क्यों नहिं अधोगति जावे	४०	५५
	१३.	ऐसा योगी क्यों न अभय पद पावे	४१	५७
औ	१४.	और सबै जगद्वंद मिटावो	३५	४८
	१५.	और सबै न कुदेव सुहाने	२४	३४
क	१६.	कबधौं मिले मोहि	४२	५९
	१७.	कुंथन के प्रतिपाल	५९	८७
	१८.	कुमति कुनारि, नहिं है भली रे	११६	१७२
ग	१९.	गुरु कहत इमि सीख बार-बार	४३	६१
घ	२०.	घड़ि-घड़ि पल-पल छिन-छिन	११७	१७३
च	२१.	चन्द्रानन जिन चन्द्रनाथ के	५६	८०
	२२.	चलि सखि देखन नाभिराय घर	५३	७५
	२३.	चित चिंतके चिदेश कब	८२	१२२
	२४.	चिद्‌राय गुन सुनो	८१	१२०
	२५.	चिन्मूरति दृगधारी की	७५	१११
	२६.	चेतन अब धरि सहज समाधि	८०	११८

	२७.	चेतन कौन अनीति गही रे	७८	११६
	२८.	चेतन तें यों ही भ्रम ठान्यो	७९	११७
	२९.	चेतन यह बुधि कौन सयानी	७७	११५
छ	३०.	छांडत क्यों नहिं रे	९८	१४४
	३१.	छांडि दे या बुधि भोरी	९७	१४३
ज	३२.	जगदानन्दन जिन अभिनन्दन	५४	७६
	३३.	जब तैं आनन्द जननि दृष्टि परी भाई	३४	४६
	३४.	जम आन अचानक दाबैगा	११८	१७४
	३५.	जय जय जग भरम	३०	४२
	३६.	जय जिन वासुपूज्य शिवरमनी रमन	५७	८२
	३७.	जय शिव कामिनी-कंत वीर	६९	१०२
	३८.	जय श्री ऋषभ जिनन्दा	४९	६८
	३९.	जय श्री वीर जिनेन्द्र चन्द्र	७०	१०४
	४०.	जय श्री वीर जिन वीर जिन	७३	१०८
	४१.	जाऊँ कहाँ तज शरण तिहारी	६	११
	४२.	जानत क्यों नहिं रे	९६	१४२
	४३.	जिन छवि तेरी यह	१७	२५
	४४.	जिन छवि लखत	१९	२७
	४५.	जिन बैन सुनत मोरी भूल भगी	३२	४४
	४६.	जिन राग-द्वेष त्यागा	४४	६२
	४७.	जिनवर आनन भान निहारत	९	१४
	४८.	जिनवाणी जान सुजान	३६	४९
	४९.	जिया तुम चालो अपने देश	८८	१३०
	५०.	जीव तू अनादि से भूल्यो शिव गैलवा	१०४	१५६
	५१.	ज्ञानी ऐसी होली मचाई	८५	१२५
	५२.	ज्ञानी जीव निवार भरम तम	१०२	१५२
त	५३.	तुम सुनियो श्री जिननाथ	२३	३३
	५४.	तू काहे को करत रति तन में	११९	१७५
	५५.	तोहि समझायो सौ-सौ बार	१०७	१५९
	५६.	त्रिभुवन आनन्दकारी जिन छवि थारी	१०	१६
थ	५७.	थारा तो बैणा मैं सरधान घणो छ	३१	४३
द	५८.	दीठा भागन तैं जिनपाला	१५	२३
	५९.	देखो जी आदीश्वर स्वामी	४८	६६

ध	६०.	धन धन साधर्मीजन मिलन की घरी	३८	५२
	६१.	धनि मुनि जिनकी लगी लौ शिव ओर नै	४५	६३
	६२.	धनि मुनि जिन यह भाव पिछाना	४६	६४
	६३.	धनि मुनि निज आतम हित कीना	४७	६५
	६४.	ध्यान कृपाण पानि गही नासी	२०	२८
न	६५.	न मानत यह जिय निपट अनारी	१०८	१६०
	६६.	नाथ मोहे तारत क्यों ना	२७	३८
	६७.	निज हित कारज करना भाई	१२१	१७७
	६८.	नित पीज्यो धीधारी	३७	५०
	६९.	निपट अयाना तूने आपा नहीं जाना	१२०	१७६
	७०.	निरखत जिनचन्द्रवदन	११	१८
	७१.	निरखत जिनचंद री माई	१२	१९
	७२.	निरखत सुख पायो जिन मुखचंद	१३	२१
	७३.	निरख सखी ऋषिन को ईश	५२	७३
	७४.	नेमि प्रभु की श्याम वरण	६१	९१
प	७५.	पद्मा सद्म पद्मा पद पद्मा	५५	७८
	७६.	पारस जिन चरन निरख	६४	९५
	७७.	पास अनादि अविद्या मोरी	६६	९७
	७८.	प्यारी लागै म्हानै जिन छवि थारी	१८	२६
	७९.	प्रभु थारी आज महिमा जानी	२२	३१
भ	८०.	भज ऋषिपति ऋषभेश	५०	६९
	८१.	भविन सरोरूह सूर भूरि गुण	२१	२९
	८२.	भाखूँ हित तेरा, सुनि हो मन मेरा	६२	९२
म	८३.	मत कीज्यो जी यारी घिन गेह देह	८९	१३१
	८४.	मत कीज्यो जी यारी ये भोग भुजंग	९०	१३३
	८५.	मत राचो धी-धारी	९१	१३५
	८६.	मन-वच-तन करि शुद्ध भजो जिन	१२२	१७८
	८७.	मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानी	९५	१४०
	८८.	मान ले या सिख मोरी	९४	१३९
	८९.	मेरी सुध लीजे ऋषभ स्वाम	५१	७१
	९०.	मेरे कब ह्वै वा दिन की सुघरी	८४	१२४
	९१.	मेरो मन ऐसी खेलत होरी	८६	१२७
	९२.	मैं आयो जिन शरन तिहारी	५	१०

	९३.	मैं हरख्यो निरख्यो मुख तेरो	१४	२१
	९४.	मोहिड़ा रे जिय	१२३	१८०
	९५.	मोही जीव भरम तम तैं नहिं	१०१	१५०
	९६.	मोहे तारो जी क्यों ना	२६	३६
र	९७.	राचि रह्यो पर मांहि	८३	१२३
ल	९८.	लखा जो या जिय भौंरे की बात	९९	१४५
	९९.	लाल कैसे जाओगे	६३	९४
व	१००.	वामा घर बजत बधाई	६५	९६
	१०१.	वारि हो बधाई या शुभ साजै	५८	८४
	१०२.	विषयों दा मद भानै	११५	१७१
	१०३.	वंदो अद्भुत चन्द्र वीर	६८	१००
श	१०४.	शिवपुर की डगर समरस सौं भरी	१०६	१५८
	१०५.	शिवमग दरसावन रावरो दरस	१६	२४
स	१०६.	सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि	१	१
	१०७.	सब मिल देखो हेलौं म्हारी	७२	१०७
	१०८.	सांवरिया के नाम जपन तैं	६७	९९
	१०९.	सुधि लीजो जी म्हारी	२९	४०
	११०.	सुन जिन बैन श्रवण सुख पायो	३३	४५
	१११.	सुनो जिया ये सत्गुरु की बातें	१००	१४८
	११२.	सौ-सौ बार हटक नहीं मानी	१२४	१८२
ह	११३.	हम तो कबहुँ न निज गुण भाये	११२	१६६
	११४.	हम तो कबहुँ न निज घर आये	११३	१६८
	११५.	हम तो कबहुँ न हित उपजाये	१११	१६४
	११६.	हमारी वीर हरो भवपीर	७१	१०६
	११७.	हे जिन! तेरे मैं शरणै आया	४	८
	११८.	हे जिन! तेरो सुजस उजागर	३	६
	११९.	हे जिन! मेरी ऐसी बुधि कीजे	७	१२
	१२०.	हे त्रिभुवन तारी हो जिन जी	२८	३९
	१२१.	हे नर भ्रम नींद क्यों न छांडत दुःखदाई	१०९	१६२
	१२२.	हे मन तेरी को कुटेव यह	९२	१३७
	१२३.	हे हितवांछक प्राणी रे	११४	१६९
	१२४.	हो तुम शठ अविचारी जियरा	९३	१३८